मधु लिमये और एक अन्य

बनाम

उपखंड मजिस्ट्रेट, मुंगेर और कुछ अन्य

(Madhu Limaye and Another

Vs.

Sub-Divisional Magistrate, Monghyr and Others)

(21 सितम्बर/28 अक्टूबर, 1970)

(मुख्य न्यायाधिपति एम० हिदायतुल्लाह, और न्या० जे० एम० शैलत, वी० भार्गव, जी० के० मित्तर, सी० ए० वैद्यलिंगम्, ए० एन० रे० और आई० डी० दुआ)

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898—धारा 144 और अध्याय 8 की सांविधानिक विधिमान्यता का प्रश्न—क्या इन दोनों के उपबंध संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क), (ख), (ग) और (घ) में प्रत्याभूत स्वतंत्रताओं का अतिक्रमण करते हैं? (नहीं)

संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेता श्री मधु लिमये और कुछ अन्य ने इन पिटीशनों में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 और अध्याय 8 की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी थी और उच्चतम न्यायालय की विशेष न्यायपीठ को इस प्रश्न पर विचार करने के लिए नामनिर्दिष्ट किया गया था। पिटीशनरों की ओर से यह तर्क दिया गया था कि संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क), (ख), (ग) और (घ) द्वारा प्रत्याभूत स्वतंत्रताओं पर निर्बन्धन की जो परिसीमाएं अधिकथित हैं उनसे अधिक परिसीमाएं दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 और अध्याय 8 में उपबंधित हैं। उच्चतम न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करना था कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 और अध्याय 8 के उपबंधों के बारे में यह कहा जा सकता है कि जहां तक उनका संबंध वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के अधिकारों और संस्थाओं और संघों के गठन करने और जमाव करने के अधिकारों से है वहां तक वे सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में हैं और जहां तक उनका संबंध भारत के समूचे राज्य क्षेत्र में संचरण स्वतन्त्र्य को कम करने से है वहां तक वे जनसाधारण के हितों में हैं? इस संबंध में केवल दो विषयों पर ध्यानपूर्वक विचार करने की आवश्यकता थी। पहला तो यह कि खंड (2)(3) और (4) में "सार्वजनिक व्यवस्था के हित में" और खंड (5) में "जनसाधारण के हितों में" अभिव्यक्तियों के क्या अर्थ हैं?

दूसरा यह कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 और अध्याय 8 के उपबंध इस परिरक्षण के अन्तर्गत किस विस्तार तक आते हैं ?

अभिनिर्धारित—दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 और अध्याय 8 के उपबंधों को समुचित रूप से समझने पर मालूम होगा कि संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क), (ख), (ग) और (घ) द्वारा प्रत्याभूत स्वतन्त्रताओं पर निर्बन्धन के लिए जो परिसीमाएं अधिकथित हैं उनसे अधिक परिसीमाएं संहिता के इन उपबंधों में नहीं हैं। पिटीशनरों की ओर से मूल अधिकारों के लिए, विशेषकर वाक् और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य अधिकार के लिए अमेरिका में प्रचलित अधिमानित-स्थिति के सिद्धान्त (डाक्टराइन आफ प्रिफर्ड पोजीशन) के आधार पर जो तर्क प्रस्तुत किया गया है वह भारत में नहीं माना जाता। इस न्यायालय ने इस सिद्धान्त को कभी नहीं माना है। यद्यपि ईप्सित अधिकारों, अनतिक्रमणीय स्वतन्त्रताओं जैसी अस्पष्ट शब्दावलियों का कभी-कभी प्रयोग किया जा सकता है किन्तु इससे यह कहना तात्पर्यित नहीं है कि मूल अधिकार किसी दूसरे मूल अधिकार से वरिष्ठ हैं या संविधान के अनुच्छेद 19 में कोई उच्चोउच्च परम्परा (हाइरारकी) अन्तर्विष्ट है। संविधान लागू होने से पहले की विधियों को असांविधानिक नहीं माना जाता। सभी विद्यमान विधियां तब तक लागू रहती हैं जब तक कि यह न्यायालय उन्हें मूल अधिकारों के विरुद्ध होने के कारण शून्य घोषित न कर दे। ऐसी विधियों को मूल अधिकारों के विरुद्ध सिद्ध करने का भार उन्हीं पर होना चाहिए जो यह दावा करते हैं कि कोई विशिष्ट विधि संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् इस कारण शून्य हो गई है क्योंकि वह प्रत्याभूत स्वतन्त्रताओं में से किसी स्वतन्त्रता के साथ पठित अनुच्छेद 13(1) के विरुद्ध है।

सार्वजनिक व्यवस्था और लोक प्रशान्ति में एक दूसरे को आलिप्त करने की बात केवल आंशिक रूप में है। लोक प्रशान्ति बहुत ही व्यापक अभिव्यक्ति है और इसके अन्तर्गत ऐसी बहुत सी बातें आती हैं जो सार्वजनिक व्यवस्था के रूप में वर्णित नहीं की जा सकतीं। सार्वजनिक व्यवस्था और लोक प्रशान्ति शब्द एक-दूसरे को कुछ हद तक आलिप्त करते हैं किन्तु ऐसी बातें भी होती हैं जो सार्वजनिक व्यवस्था में विघ्न पैदा किए बिना लोक प्रशान्ति में विघ्न पैदा कर सकती हैं। इंग्लैंड और अमेरिका की नजीरों और विधान से हमें बहुत सहायता नहीं मिलती है।

धारा 144 के अधीन कार्यवाही का तात्पर्य यह है कि स्थिति अर्जेण्ट हो और कार्यवाही की प्रभावकारिता इस बात में है कि ऐसी कार्यवाही से कुछ हानिकारक घटनाओं को निवारित करने की संभाव्यता हो। चूंकि आत्यंतिक रूप में और एकपक्षीय रूप में भी कार्य करना संभव है इसलिए आपात (एमरजेन्सी) आकस्मिक होना चाहिए और इसके परिणाम काफी गंभीर होने चाहिए। इस बात के बिना इस शक्ति के प्रयोग के लिए कोई न्यायौचित्य नहीं रह जाएगा। यह शक्ति प्रशासनिक कार्य से उत्पन्न होने वाली मामूली शक्ति नहीं है बल्कि न्यायिक रीति में प्रयोक्तव्य शक्ति है। इस शक्ति के प्रयोग के बारे में तथा उसकी प्रभावकारिता और उसको लागू किए जाने के विस्तार के बारे में न्यायिक

1970(10) eILR(PAT) SC 16

संवीक्षा की जा सकती है । ऐसी कोई साधारण प्रस्थापना नहीं है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 के अधीन कोई आदेश साक्ष्य लिए बिना नहीं पारित किया जा सकता। धारा 144 द्वारा जो निर्बन्धन लगाए जाते हैं वे अस्थायी हैं और इस धारा द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग ऐसा वरिष्ठ मजिस्ट्रेट करता है जिसे सारवान् तथ्यों को उपवर्णित करना पड़ता है । दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि उसे न्यायिक शक्ति के प्रयोग में जांच करनी पड़ती है और आदेश के लिए कारण बताने पड़ते हैं और व्यथित व्यक्ति को यह अवसर प्रदान करना पड़ता है कि वह या तो मजिस्ट्रेट द्वारा या वरिष्ठ न्यायालयों द्वारा उस आदेश को विखंडित करा सके । हमने सभी विषयों पर पुनर्विचार कर लिया है और हमारा समाधान हो गया है कि इस आदेश से प्रभावित व्यक्ति को पर्याप्त सुरक्षाएं उपलब्ध हैं और इसलिए यह निर्बन्धन युक्तियुक्त हैं । हमारी यह राय है कि धारा 144 को समुचित रूप से लागू किया जाए तो यह धारा असांविधानिक नहीं है और यह तथ्य कि इस धारा का दुरुपयोग किया जाता है इसे अवैध घोषित करने के लिए कोई आधार नहीं है ।

अध्याय 8 का तात्पर्य अपराधों और लोक प्रशान्ति विक्षुब्ध करने और परिशांति भंग करने का निवारण करना है । प्रत्यक्ष कार्यों को साबित करने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि ऐसे कार्य किए गए हैं तो उन पर विचार करना पड़ेगा । चूंकि यह कार्यवाही निवारात्मक है इसलिए यह प्रत्यक्ष कार्यों के आधार पर नहीं है बल्कि ऐसे आशंकित संकट के आधार पर है जिन्हें दूर करना है । इसलिए यह उपबंध सार्वजनिक व्यवस्था के हित में अत्यावश्यक रूप में उसी अर्थ में अनुध्यात है जिसे हमने यहां बताया है । ये कार्यवाहियां जनसाधारण के हित में भी हैं । यदि अपराधों और परिशांति भंग और लोक प्रशान्ति में विक्षुब्ध होने का निवारण सामुदायिक जीवन की सामान्य स्थिति को बनाए रखने के लिए किया जाता है तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि ये कार्यवाहियां सार्वजनिक व्यवस्था के हित में हैं । "सार्वजनिक व्यवस्था" ऐसी अभिव्यक्ति है जिसमें लचीलापन है और विधि की प्रसंगानुकूल और विशेष परिस्थितियों की विद्यमानता को देखते हुए इस अभिव्यक्ति के अनेक अर्थ किए जा सकते हैं । इंग्लैंड में इस शक्ति का प्रयोग 400 वर्षों से भी अधिक समय से किया जा रहा है और यह ऐसी शक्ति नहीं है जो केवल औपनिवेशक साम्राज्यों के प्रशासन के लिए आवश्यक है । हमारे समाज में इसकी आवश्यकता आज भी उतनी ही अधिक है जितनी कि यह अंग्रेजों के जाने से पहले थी । हम इसमें कोई बात संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क), (ख), (ग) और (घ) के विरुद्ध नहीं पाते हैं क्योंकि इसके निर्बन्धनों की परिसीमाएं खण्ड (2), (3), (4) और (5) के अन्तर्गत हैं । तदनुसार हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि हमने जिस रूप में इस अध्याय की व्याख्या की है उस रूप में यह अध्याय सांविधानिक रूप से विधिमान्य है ।

आई०सी० गोलक नाथ और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य (I. C. Golak Nath & Others *Vs.* State of Punjab and Another), (1967) 2 एस० सी० आर० 762; **बाबूलाल पराठे बनाम महाराष्ट्र राज्य** (Babulal Parata *Vs.* State of Maharashtra), (1961) 3 एस० सी० आर० 423; **रमेश चन्द्र थापर बनाम मद्रास राज्य** (Ramesh

Chandra Thapar *Vs.* State of Madras), (1950) एस० सी० आर० 594; बृजभूषण बनाम दिल्ली राज्य (Brijbhushan *Vs.* State of Delhi), (1950) एस० सी० आर० 605; डाक्टर राम मनोहर लोहिया बनाम बिहार राज्य और कुछ अन्य (Dr. Ram Manohar Lohia *Vs.* State of Bihar and Others), (1966) 1 एस० सी० आर० 709; बिहार राज्य बनाम के० के० मिश्र और कुछ अन्य (State of Bihar *Vs.* K. K. Mishra and Others), (1969) 3 एस० सी० आर० 337; यूनाइटेड स्टेट्स बनाम कारलोना प्राडक्ट्स कम्पनी (United States *Vs.* Carolana Products Co.), (1938) 304 यू० एस० 144; कोवाक्स बनाम कूपर (Kovacs *Vs.* Cooper), (1949) 336 यू० एस० 77; थमस बनाम कालिन्स (Thomas *Vs.* Collins), (1944) 323 यू० एस० 316; रामजीलाल मोदी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (Ramjilal Modi *Vs.* State of Uttar Pradesh), (1957), एस० सी० आर० 860; वीरेन्द्र बनाम पंजाब राज्य (Virendra *Vs.* State of Punjab), 1958 एस० सी० आर० 308; सुप्रिन्टेंडेंट सेन्ट्रल प्रिज़न फतेहगढ़ बमान राम मनोहर लोहिया (Superintendent, Central Prison, Fatehgrarh *Vs.* Ram Manohar Lohia), (1960) 2 एस० सी० आर० 821; कैन्टवेल बनाम कन्केटीकट (Cantwell *Vs.* Connecticut), (1940) 310 यू० एस० 296; डाक्टर राम मनोहर लोहिया बनाम बिहार राज्य और कुछ अन्य (Dr. Ram Manohar Lohia *Vs.* State of Bihar and Others) मुसम्मात जगरूपा कुमारी बनाम चौबे नारायण सिंह (Mst. Jagrupa Kumari *Vs.* Chobey Narain Singh), 37 क्रिमनल सी० जे० 95, एम्परर बनाम नबीबक्श और कुछ अन्य (Emperor *Vs.* Nabibux and Others), ए० आई० आर० 1942 सिंध 86; दुलाल चन्द्र मंडल बनाम राज्य (Dulal Chandra Mandal *Vs.* State), ए० आई० आर० 1953 कलकत्ता 238; गनी गनायी और कुछ अन्य बनाम राज्य (Gani Ganai and Others *Vs.* State), ए० आई० आर० 1959 जे० एण्ड के० 125; लक्ष्मी लाल बनाम भेरू लाल (Laxmilal *Vs.* Bherulal), ए० आई० आर० 1958 राजस्थान 349; मुट्टूस्वामी का मामला (In re. Muttuswami), आई० एल० आर० (194) मद्रास 335 (एफ० बी०); वेंकट-सुब्बा का मामला (In re. Venkatasubba Reddy), ए० आई० आर० 1955 आन्ध्र प्रदेश 96; जगदीश प्रसाद बनाम राज्य (Jagdish Prasad *Vs.* State), ए० आई० आर० पटना 106; जलाउद्दीन कुंजू बनाम राज्य (Jalaudin Kunju *Vs.* State), ए० आई०, आर० 1952 ट्रा० एण्ड कम्पनी 262; श्रवण कुमार गुप्त बनाम सुप्रिन्टेंडेंट डिस्ट्रिक्ट जेल मथुरा और कुछ अन्य (Shrawan Kumar Gupta *Vs.* Superintendent, District Jail Mathura and Others), ए० आई० आर० 1957 इलाहाबाद 189; जंगीर सिंह बनाम राज्य (Jangir Singh *Vs.* The State), ए० आई० आर० 1960 पंजाब 225; राम गोवडा और कुछ अन्य बनाम मैसूर राज्य (Rama Gowda and Others *Vs.* State of Mysore), ए० आई० आर 1960 मैसूर 259; रतीलाल जसराज बनाम राज्य (Ratilal Jasraj *Vs.* The State), ए० आई० आर० 1956 मुम्बई 385; एम्परर बनाम बबूआ (Emperor *Vs.* Babua), आई० एल० आर० 6, इलाहाबाद 132; नफर चन्द्र पाल बनाम दि किंग एम्परर (Nafar Chandra Pal *Vs.* The King

Emperor), 28 सी० डब्ल्यू० एन० 23; **ए० डी० डन** बनाम **हेमचन्द्र** (A. D. Dunne *Vs.* Hemchandra), (1869) 12 डब्ल्यू आर० (क्रिमिनल) 60; **वसुदेव ओजा और कुछ अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** (Vasudeo Ojha and Others *Vs.* State of Uttar Pradesh), ए० आई० आर० 1958 इलाहाबाद 578, निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक अधिकारिता : भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन 1970 की सं० 77 और 307 वाले रिट पिटीशन।

1970 की सं० 77 वाले रिट पिटीशन में	
श्री मधु लिमये	स्वयं
प्रत्यर्थी सं० 1 से 4 तक की ओर से	सर्वश्री नुरुद्दीन अहमद, के० पी० वर्मा और डी० गोवर्धन
भारत के अटर्नी जनरल की ओर से	भारत के अटर्नी जनरल श्री नीरेन डे (इनके साथ सर्वश्री आर० एस० ढेबर, एच० आर० खन्ना और एस० पी० नायर
1970 की सं० 307 वाले रिट पिटीशन में	
श्री मधु लिमये	स्वयं
पिटीशन सं० 2 की ओर से	सर्वश्री के० राजेन्द्र चौधरी और प्रताप सिंह
प्रत्यर्थियों की ओर से	श्री सी० के० दफ्तरी और डाक्टर एल० एम० सिंघवी और श्री ओ० पी० राणा
भारत के अटर्नी जनरल की ओर से	भारत के अटर्नी जनरल श्री नीरेन डे (इनके साथ सर्वश्री आर० एच० ढेबर, एच० आर० खन्ना, एस० पी० नायर और आर० एन० सचदे।
मध्यक्षेपियों (इन्टरवीनरों) की ओर से	
इन्टरवीनर सं० 1 से 3 तक की ओर से (सर्वश्री सजीवन लाल, एस० ए० डांगे और राजनारायण)	सर्वश्री एस० सी० अग्रवाल और डी० पी० सिंह
इन्टरवीनर सं० 4 से 7 तक की ओर से (सर्वश्री आर० के० बोहरा और जी० एस० नेगी)	सर्वश्री ए० एस० आर० चारी, एस० सी० अग्रवाल और डी० पी० सिंह

इन्टरवीनर सं० 5 की ओर से (श्री राव मुख्तार अली और कुछ अन्य)	सर्वश्री एस० सी० अग्रवाल, डी० पी० सिंह और आसिफ अंसारी
इन्टरवीनर सं० 6 की ओर से (श्री के० एन० शर्मा और कुछ अन्य)	श्री शिवपूजन सिंह
इन्टरवीनर सं० 8 की ओर से (आर० के० गर्ग)	श्री डी० पी० सिंह

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधिपति एम० हिदायतुल्लाह ने दिया।

मुख्य न्यायाधिपति हिदायतुल्लाह—

इन पिटीशनों की सुनवाई में दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 और अध्याय 8 की सांविधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी और यह विशेष न्यायपीठ इसी विवाद्यक पर विचार करने के लिए नामनिर्दिष्ट किया गया था। पिटीशनर और अनेक मध्यक्षेपियों (इन्टरवीनरों) की ओर से हमारे समक्ष लम्बी बहसें की गईं। इस मामले का दायरा छोटा है जैसा कि हम आगे दिखलाएंगे। बहस समाप्त होने पर हमने अपने इस निष्कर्ष का प्रख्यापन किया था कि संहिता के उक्त उपबंधों को समुचित रूप से समझने पर मालूम होगा कि संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क) (ख) (ग) और (घ) द्वारा प्रत्याभूत (गारंटी दी गई) स्वतन्त्रताओं पर निर्बन्धन के लिए जो परिसीमाएं अधिकथित हैं उनसे अधिक परिसीमाएं संहिता के उक्त उपबंधों में नहीं हैं। हमने अपने इस निष्कर्ष के कारणों को उस समय बताने से रोक रखा था और अब हम उन्हें बता रहे हैं।

हमसे यह प्रार्थना की गई है कि हम संविधान के 19वें अनुच्छेद के प्रथम खण्ड के प्रथम चार उपखंडों को दृष्टि में रखते हुए संहिता के आक्षेपित उपखंडों का परीक्षण करें। तदनुसार हम इस अनुच्छेद के उपखण्डों को उद्धृत कर रहे हैं—

"19(1) सब नागरिकों को—

(क) वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का,

(ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का,

(ग) संस्था या संघ बनाने का,

(घ) भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का,

अधिकार होगा।"

ये उपखंड चार पृथक् विषयों के बारे में हैं किन्तु ये चारों विषय आपस में शिथिल रूप से सम्बद्ध हैं। ये कतिपय वैयक्तिक और समूहों (ग्रुपों) की स्वतन्त्रताओं का भी परिरक्षण करते हैं। ये वाक्-स्वातन्त्र्य और संचरण की वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं और समूहों के एक सदस्य को (और समूह को भी) वही स्वतन्त्रताएं; और संस्थाओं तथा संघों के बनाने के अधिकार सहित, जमाव करने के अधिकार प्रदान करते हैं। यद्यपि ये प्रत्याभूतियां (गारण्टियां) निरपेक्ष पदावली में व्यक्त की गई हैं तथापि ये वास्तव में वैसी हैं नहीं। पहले से प्रत्याभूति प्रत्येक स्वतन्त्रता में अनेक निर्बन्धनात्मक अपवाद जोड़ दिए गए हैं। ये निर्बन्धन खण्ड (2), (3) और (4) और (5) में अन्तर्विष्ट हैं और इनका क्रमश: संबंध प्रथम खण्ड के उपखंड (क), (ख), (ग) और (घ) से है। खण्ड (5) के अन्तर्गत प्रथम खण्ड के उपखण्ड (ङ) और (च) भी आते हैं। किन्तु इस अतिरिक्त तथ्य से हमें कोई सरोकार नहीं है। इनमें से खण्ड (2), जिस रूप में आज है, संविधान में मूलत: नहीं था। किन्तु बाद में संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 3 द्वारा इसे भूतलक्षी रूप में प्रभावी करते हुए प्रतिस्थापित किया गया था। यथार्थत: यह कह सकते हैं कि आज हमारे समक्ष जो उपखंड (2) है वह संविधान में कभी था ही नहीं और यदि हम ऐसा नहीं कहना चाहते तो फिर हमें यह अभिनिर्धारित करना पड़ेगा कि प्रथम संशोधन या तो विधिमान्य नहीं था या उसका भूतलक्षी प्रभाव नहीं था। हमसे ऐसा करने के लिए और **आई० सी० गोलक नाथ और कुछ अन्य** बनाम **पंजाब राज्य और एक अन्य**(1) में किए गए विनिश्चय पर पुनर्विचार करने के लिए प्रार्थना की गई थी किन्तु हमने इस प्रार्थना को नामंजूर कर दिया क्योंकि इसकी विधिमान्यता पर उस मामले में किसी प्रक्रम में सन्देह नहीं किया गया था इसलिए अब इस संशोधन की विधिमान्यता का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता।

इसके परिणामस्वरूप हमें पूर्ववर्ती खण्ड (2) को पढ़ना अपेक्षित नहीं है क्योंकि यह उपखंड कभी विद्यमान था ही नहीं। खण्ड (2), (3) और (4) का आगे और संशोधन तब किया गया जब उनमें से प्रत्येक में "भारत की प्रभुता और अखण्डता" शब्द संविधान (सोलहवां संशोधन) अधिनियम, 1953 की धारा 2 द्वारा अन्त:स्थापित किए गए थे। ये खण्ड आज जिस रूप में विद्यमान हैं इस प्रकार है—

> "(2) खण्ड (1) के उपखण्ड (क) की कोई बात न तो किसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर वहां तक प्रभाव डालेगी जहां तक वह उक्त उपखंड द्वारा प्रदत्त अधिकार के प्रयोग पर, भारत की सम्पूर्ण प्रभुता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टता या नैतिकता के हितों में या न्यायालय अवमान, मानहानि या अपराध-उद्दीपन के सम्बन्ध में युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करती है और न वह इस प्रकार की

(1) (1967) 2 एस० सी० आर० 762.

कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित करेगा।

(3) उक्त खण्ड के उपखण्ड (ख) की कोई बात न तो किसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर वहां तक प्रभाव डालेगी जहां तक वह उक्त उपखंड द्वारा प्रदत्त अधिकार के प्रयोग पर भारत की सम्पूर्ण प्रभुता और अखंडता या सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करती है और न वह इस प्रकार के निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली विधि बनाने से राज्य को निवारित करेगी।

(4) उक्त खण्ड के उपखंड (ग) की कोई बात न तो किसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर वहां तक प्रभाव डालेगी जहां तक वह उक्त उपखंड द्वारा प्रदत्त अधिकार के प्रयोग पर, भारत की सम्पूर्ण प्रभुता और अखंडता या सार्वजनिक व्यवस्था या नैतिकता के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करती है और न वह इस प्रकार के निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली विधि बनाने से राज्य को निवारित करेगी; और

(5) उक्त खंड के उपखंड (घ), (ङ) और (च) की कोई बात न तो किसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर वहां तक प्रभाव डालेगी जहां तक वह उक्त उपखंडों द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी के प्रयोग पर या तो जनसाधारण के हितों में या किसी अनुसूचित जनजाति के हितों के संरक्षण के लिए युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करती है और न वह इस प्रकार के निर्बन्धन अधिरोपित करने वाली विधि बनाने से राज्य को निवारित करेगी।"

हमारे लिए इतना ही विनिश्चय करना आवश्यक है कि क्या इन खंडों से संहिता के आक्षेपित उपबन्धों की संरक्षा इस रूप में होती है कि ये उपबंध प्रत्याभूत स्वतंत्रताओं पर युक्तियुक्त और विधिमान्य निर्बन्धन हैं। इस पर विचार करने से पूर्व हम श्री ए० एस० आर० चारी के विलक्षण तर्क का निपटारा कर देना चाहते हैं। इस तर्क को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

"मूल खंड (2) को उस रूप में पढ़ना चाहिए जिस रूप में वह संविधान के प्रारम्भ होने के समय विद्यमान था। यह खंड इस प्रकार है—

(2) खंड (1) के उपखंड (क) की कोई बात न हो किसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर वहां तक प्रभाव डालेगी जहां तक ऐसी विधि का सम्बन्ध अपमान-लेख, अपमान-वचन, मानहानि, न्यायालय का अवमान, या ऐसी बात से हो, जो शिष्टाचार, नैतिकता का अतिक्रमण करती है या जो राज्य की सुरक्षा को कम करती हो या राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाली हो और न वैसे निर्बन्धन लगाने

1970(10) eILR(PAT) SC 16

वाली कोई विधि बनाने से राज्य को निवारित करेगी।

यह खंड सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में उस रूप में निर्बन्धन लगाने की अनुज्ञा नहीं प्रदान करता था जिस रूप में कि आज आक्षेपित उपबंधों को न्यायोचित बताया जाता है। यह बात तो मानी हुई है कि खंड (2) के अन्य भागों का संबंध आक्षेपित उपबंधों से नहीं है और सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में प्रयोक्तव्य शक्ति की सहायता लिए बिना इन उपबन्धों की संरक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए संविधान के प्रवृत्त होने पर संहिता के आक्षेपित उपबंध शून्य हो गए, अर्थात् वे अप्रभावी थे और जब संविधान का संशोधन किया गया तब वे पुनः प्रभावी नहीं हो सकते। उन्हें पुनः अधिनियमित करना पड़ेगा।"

दोनों पक्षकारों ने इस प्रश्न पर तर्क प्रस्तुत किया कि क्या ये उपबंध अप्रभावी थे अर्थात् कानूनी पुस्तक से हटा दिए गए थे और इनका पुनः अधिनियमन अपेक्षित था, अथवा ये तब तक केवल तिरोहित (एकलिपस्ड) रहे, अर्थात् अप्रभावी रहे, जब तक कि मूल खंड (2) की छाया (प्रभाव) को उन पर से हटा नहीं लिया गया। हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते। यह उपधारणा कर लेने पर भी कि संविधान भूतलक्षी रूप में प्रभावी होने के लिए संशोधित किया जा सकता था (यह ऐसा प्रश्न नहीं है जिसके बारे में बिल्कुल ही कठिनाई न हो) संशोधन का प्रयोजन एक परिकल्पना (फिक्शन) का सृजन करना था। संविधान के प्रथम संशोधन से पूर्व असांविधानिक घोषित किसी ऐसी विधि के बारे में जो बात कही जाती है वही बात उस विधि के बारे में नहीं कही जा सकती जिस पर हम प्रथम संशोधन के पश्चात् आज विचार कर रहे हैं। संशोधन में यह परिकल्पना है कि संविधान को किसी अन्य खंड के साथ नहीं बल्कि नए खंड के साथ पढ़ा जाए और जो विधि (अन्य बातों के साथ) सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में या जनसाधारण के हितों में स्वतंत्रताओं पर निर्बन्धन लगाती है उसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाए कि वह संशोधन के परिणामस्वरूप नहीं संरक्षित है बल्कि इस कारण संरक्षित है कि ये निर्बन्धन के प्रारम्भ से ही प्रवृत्त थे। इसलिए आज हम भले ही इस मामले पर तब विचार कर रहे हैं जब कि संविधान का बहुत कुछ इतिहास लिखा जा चुका और उसके बाद इन भूतलक्षी संशोधनों द्वारा उसे अनलिखा कर दिया गया है (यह उपधारणा करते हुए कि ऐसा करना अनुज्ञेय था) किन्तु हम संशोधित खंड (2) के परिरक्षण को इस रूप में पढ़ते हैं कि वह 26 जनवरी, 1950 से बिना किसी व्यवधान के उपलब्ध है। यदि इस परिकल्पना को पूर्ण रूप से प्रभावी किया जाए तो कोई और निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इस दृष्टि से मामले पर विचार करने पर हम इस न्यायालय के उस विनिर्णय का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझते हैं जिसमें इस न्यायालय ने इस कालावधि के बीच विधियों के उपबन्धों के सम्बन्ध में तिरोहित रहने के सिद्धान्त (डाक्टराइन आफ एक्लिप्स) को शून्य घोषित किया था। प्रत्यक्षतः इस तर्क को इस मामले में लागू नहीं किया जा सकता।

इससे परिणाम यह निकला कि हमें केवल इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 और अध्याय 8 के उपबन्धों के बारे में यह

कहा जा सकता है कि जहां तक कि उनका सम्बन्ध वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के अधिकारों, संस्थाओं और संघों के गठन करने और जमाव करने के अधिकारों से है, वहां तक वे सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में हैं और जहां तक उनका सम्बन्ध भारत के समूचे राज्यक्षेत्र में संचरण स्वातन्त्र्य को कम करने से है वहां तक वे जनसाधारण के हितों में हैं ? इस सम्बन्ध में केवल दो विषयों पर ध्यानपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। पहला तो यह है कि खंड (2), (3) और (4) में "सार्वजनिक व्यवस्था के हित में" और खंड (5) में "जनसाधारण के हितों में" अभिव्यक्तियों के क्या अर्थ हैं ? दूसरा यह कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 और अध्याय 8 के उपबन्ध इस परिरक्षण के अन्तर्गत किस विस्तार तक आते हैं ?

जहां तक संहिता की धारा 144 का प्रश्न है, इस न्यायालय ने **बाबूलाल पराठे** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** (2) में यह अभिनिर्धारित किया था कि यह धारा संविधान के शक्त्यान्तर्गत है किन्तु इस सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया गया था क्योंकि इस न्यायालय के इस निर्णय में "सार्वजनिक व्यवस्था कायम रखने के हित में" या "विधि और व्यवस्था कायम रखने के कर्त्तव्य" शब्दों का प्रयोग किया गया था जब कि संविधान के अनुच्छेद 19 के द्वितीय खण्ड में "सार्वजनिक व्यवस्था के हित में" शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन अनेक अभिव्यक्तियों के अर्थ में अन्तर की ओर संकेत इस न्यायालय के प्रारंभिक मामलों में समय-समय पर किया गया था, **रमेशचन्द्र थापर** बनाम **मद्रास राज्य** (3) और **बृजभूषण** बनाम **दिल्ली राज्य** (4) से लेकर **डाक्टर राम मनोहर लोहिया** बनाम **बिहार राज्य और कुछ अन्य** (5) तक के मामलों में और इसके पश्चात्वर्ती कुछ मामलों में भी इस अन्तर की ओर संकेत किया गया है। यह कहा गया है कि **बाबूलाल पराठे के मामले** का प्रभाव समाप्त हो गया है, और यह दलील दी गई है कि इस विषय पर पुनः विचार करना आवश्यक है। यद्यपि यह प्रश्न इस न्यायालय के समक्ष **बिहार राज्य** बनाम **के० के० मिश्र और एक अन्य** (6) में फिर उस समय उठाया गया था जब इस धारा की उपधारा (6) के द्वितीय भाग को अविधिमान्य घोषित किया गया था किन्तु **बाबूलाल पराठे के मामले** के विनिश्चय में इस न्यायालय के अन्य मामलों की, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, दृष्टि से विचार नहीं किया गया था। इसलिए यह विशेष न्यायपीठ संहिता की धारा 144 और अध्याय 8 के सम्बन्ध में सम्पूर्ण स्थिति का पुनर्विलोकन करने के लिए गठित की गई है।

पिटीशनर और मध्यक्षेपियों (इन्टरवीनरों) की ओर से मूल अधिकारों के लिए,

---

(2) (1961) 3 एस० सी० आर० 423.
(3) (1950) एस० सी० आर० 594.
(4) (1950) एस० सी० आर० 605.
(5) (1966) 1 एस० सी० आर० 709.
(6) (1969) 3 एस० सी० आर० 337.

विशेषकर वाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के अधिकार के लिए, अधिमानित स्थिति के सिद्धान्त (डाक्टराइन आफ प्रिफर्ड पोजीशन) के आधार पर बहस शुरू की गई है। एक इन्टरवीनर श्री गर्ग ने अपने तर्क को अमेरिकी सिद्धान्त के आधार पर प्रस्तुत किया है। दूसरे इन्टरवीनर की ओर से श्री चारी ने अप्रत्यक्ष रूप से इसका अवलम्बन किया है। उनकी दलील यह थी कि जब न्यायालयों को इस प्रश्न पर विचार करना होता है कि कोई विधायी या कार्यपालिक कार्यवाही सांविधानिक है या नहीं तब उन्हें मूल स्वतंत्रताओं का पक्ष लेना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि निर्बन्धन युक्तियुक्त हैं या नहीं। दूसरे शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि न्यायालयों को निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता साबित करने का भार राज्य पर डालना चाहिए। इसलिए यहां इसके बारे में यह बात कह देनी चाहिए कि न्यायालयों को मूल स्वतन्त्रता की दृष्टि से विधियों की सांविधानिक विधिमान्यता की चुनौती के प्रश्न पर किस तरह से विचार करना चाहिए।

अमेरिका में अधिमानित-स्थिति के सिद्धान्त को जिस रूप में रूजवेल्ट न्यायालय ने न्यायाधीशों ब्लैक, डग्लस, मर्फी, स्टोन और रटलेज के माध्यम से विकसित किया था उसमें यह अनुध्यात था कि ऐसी किसी विधि को जो वाक्, प्रेस, धर्म और जमाव की स्वतन्त्रता पर निर्बन्धन लगाती है, तब तक प्रत्यक्षतः अविधिमान्य समझा जाना चाहिए जब तक कि यह साबित न हो जाए कि वह विधिमान्य थी। संभवतः यह सिद्धान्त न्यायाधीश स्टोन के उस मत के परिणामस्वरूप है जो उन्होंने **यूनाइटेड स्टेट्स** बनाम **कार्लोना प्राडक्ट्स कम्पनी**(7) में व्यक्त किया था। किन्तु 1949 में न्यायाधीश मर्फी और रटलेज की मृत्यु के पश्चात् न्यायाधीश ब्लैक और डग्लस ने अभी हाल के वर्षों में इस सिद्धान्त को अवसर अपनाया है। इसका इतिहास न्यायाधीश फ्रैंकफर्टर ने **कोवाक्स** बनाम **कूपर**(8) में अपनी सम्मत राय व्यक्त करते हुए बताया है। किन्तु उन्होंने इस मामले में इसे अस्वीकार किया है। न्यायाधीश रटलेज ने यह बात **टामस** बनाम **कोलिन्स**(9) में निम्नलिखित शब्दों में कही थी—

> "इस मामले में हमें फिर अपने उस कर्त्तव्य पर विचार करना पड़ता है जो हमारी पद्धति के अनुसार इस न्यायालय पर अधिरोपित है, अर्थात् व्यक्ति की स्वतंत्रता कहां समाप्त होती है और राज्य की शक्ति कहां से प्रारम्भ होती है? इसकी सीमारेखा निश्चित करना आज भी उतना ही नाजुक कार्य है जितना कि यह हमेशा से रहा है। संभवतः यह और भी नाजुक वहां हो जाता है जहां विधान का समर्थन करने की प्रायिक उपधारणा, हमारी स्कीम में प्रथम संशोधन द्वारा सुरक्षित महान और अपरिहार्य स्वतन्त्रताओं को दी गई अधिमानित-स्थिति से

(7) (1938) 304 यू० एस० 144.
(8) (1949) 336 यू० एस० 77.
(9) (1944) 323 यू० एस० 316.

सन्तुलित होती है। इस प्राथमिक बात से इन स्वतंत्रताओं को ऐसी पवित्रता और स्वीकृति मिल गई है कि इनमें संदेहजनक हस्तक्षेप नहीं किए जा सकते। इन कारणों से इन स्वतन्त्रताओं पर निर्बन्धन लगाने का कोई भी प्रयत्न जनसाधारण हित की दृष्टि में स्पष्टतः न्यायोचित होना चाहिए और इस जनसाधारण हित के लिए कोई संदेहपूर्ण या दूरस्थ संकट नहीं होना चाहिए बल्कि स्पष्ट और वर्तमान संकट होना चाहिए। जिस उपाय का उपबन्ध किया गया है और जिस दुर्गुण को दूर करना है, उनके बीच जो तर्कसंगत संबंध है, वह दूसरे प्रसंगों में सम्यक् प्रक्रिया (ड्यू प्रोसेस) के आधारों पर विधान का समर्थन भले ही करता हो किन्तु वह इसके लिए पर्याप्त नहीं है। ये अधिकार दृढ़तर आधार पर टिके हुए हैं।"

इस सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ था कि जो व्यक्ति विधान की रक्षा करना चाहते थे उनके पक्ष में यह उपधारणा किए बिना कि विधान विधिमान्य है, उनके कन्धों पर यह भार डाल दिया गया कि वे यह साबित करें कि विधान विधिमान्य है। किन्तु जब 1949 में न्यायाधीश क्लर्क और मिंटन ने न्यायाधीश मर्फी और रटलेज का स्थान ग्रहण किया, तब से बहुसंख्यक न्यायाधीशों ने इस सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है। कोवाक के मामले में न्यायाधीश फ्रैंकफर्टर ने इसे "प्रवंचनापूर्ण सूत्र द्वारा सांविधानिक न्यायनिर्णयन की जटिल प्रक्रिया" के रूप से वर्णित किया है। यह कहना पर्याप्त है कि यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) के सुप्रीम कोर्ट ने अधिमानित-स्थिति के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया है और विधि की अयुक्तियुक्तता को सिद्ध करना पड़ता है।

इस न्यायालय में अधिमानित-स्थिति के सिद्धान्त को कभी माना नहीं गया है, भले ही "ईप्सित अधिकारों, अनतिक्रमणीय स्वतन्त्रताओं" जैसी अस्पष्ट पदावलियों का कभी-कभी प्रयोग किया गया है किन्तु इससे यह कहना तात्पर्यित नहीं है कि एक मूल अधिकार किसी दूसरे मूल अधिकार से वरिष्ठ है या अनुच्छेद 19 में कोई उच्चोउच्च परम्परा (हाइरारकी) अन्तर्विष्ट है। संविधान लागू होने से पहले की विधियों को असांविधानिक नहीं माना जाता। हम इस उपधारणा से विचार प्रारम्भ नहीं करते हैं कि संविधान से पहले की विधि होने के कारण राज्य पर उसकी विधिमान्यता सिद्ध करने का भार है। सभी विद्यमान विधियां तब तक लागू रहती हैं जब तक कि यह न्यायालय उन्हें मूल अधिकारों के विरुद्ध होने के कारण शून्य घोषित न कर दे। ऐसा सिद्ध करने का भार उन्हीं पर होना चाहिए जो यह दावा करते हैं कि कोई विशिष्ट विधि संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् इस कारण शून्य हो गई है क्योंकि वह प्रत्याभूत स्वतंत्रताओं में से किसी स्वतंत्रता के साथ पठित अनुच्छेद 13(1) के विरुद्ध है।

जैसा कि पहले कहा गया है **बाबूलाल पराठे के मामले** के संबंध में वर्तमान संदेह संविधान के अनुच्छेद 19(2) की शब्दावली का अनुसरण न करने के कारण उत्पन्न हुआ है। इसमें "सार्वजनिक व्यवस्था के हित में" शब्द हैं। इन्हीं शब्दों की व्याख्या करने की आवश्यकता है और "विधि तथा व्यवस्था को कायम रखने के हित में"

अभिव्यक्ति की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये उस अनुच्छेद के शब्द नहीं हैं। सही अभिव्यक्ति के अर्थ को बतलाने के लिए हमें इस न्यायालय के कुछ पूर्ववर्ती विनिश्चयों का उल्लेख करना आवश्यक है।

जब **रमेश चन्द्र थापर** बनाम **मद्रास राज्य** और **बृजभूषण** बनाम **दिल्ली राज्य** के विनिश्चय किए गए थे उस समय मूल खंड (2) विद्यमान था। इसके अन्तर्गत "सार्वजनिक व्यवस्था के हित में" शब्दावली नहीं थी। इसलिए कानूनों की विधिमान्यता की परख "राज्य की सुरक्षा" शब्दों की दृष्टि से की गई थी। नए खंड के भूतलक्षी रूप में प्रस्थापित किए जाने के पश्चात् इस विषय पर विचार "सार्वजनिक व्यवस्था की दृष्टि से" किया जाने लगा। **रामजी लाल मोदी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** (10) में यह बतलाया गया कि संविधान में प्रयुक्त भाषा अर्थात् "के हित में" अभिव्यक्ति "कायम रखने के लिए" से अधिक व्यापक है और पूर्ववर्ती अभिव्यक्ति से परिरक्षण का विस्तार बहुत बढ़ गया। यह मत प्रकट किया गया कि विधि सार्वजनिक व्यवस्था कायम रखने के लिए भले ही प्रत्यक्षतः न बनाई गई हो फिर भी उसे सार्वजनिक व्यवस्था के हित में अधिनियमित किया जा सकता था। इस मत की पुनः पुष्टि **वीरेन्द्र** बनाम **पंजाब राज्य** (11) में की गई जिसमें इसी आधार पर प्रथम संशोधन से पूर्व के दोनों मामलों से प्रभेद किया गया। इस मामले के निर्णय के पृष्ठ 323 पर दिए गए अंश का उद्धरण निम्नलिखित रूप में है—

> "यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुच्छेद 19(2) की शब्दावली उस समय जैसी थी उसके अनुसार विधि को किसी ऐसे विषय के सम्बन्ध में परिरक्षण प्राप्त था जो राज्य की सुरक्षा को खतरे में डालता है या राज्य के शासन को उलटने के लिए आशयित था। मेन्टेनेंस आफ पब्लिक आर्डर की धारा 9(1)(क) "सार्वजनिक सुरक्षा को सुनिश्चित करने और सार्वजनिक व्यवस्था को कायम रखने के प्रयोजन के लिए" बनाई गई थी। यह बतलाया गया था कि आक्षेपित अधिनियम से चाहे जो भी प्रयोजन हो, और उसके निर्माताओं ने चाहे जिस उद्देश्य को अपनी दृष्टि में रखा हो उसका लागू किया जाना और उसका विस्तार स्वतः कानून में परिसीमित करने वाले शब्दों के अभाव में ऐसी उग्र कार्यवाहियों के लिए ही सीमित थी जिनसे राज्य की सुरक्षा को खतरा होने की संभावना थी। उसमें ऐसी कोई गारंटी भी नहीं थी कि ऐसे आफिसर जो अधिनियम के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हैं, उसका प्रयोग करने में उन व्यक्तियों में विभेद करें जो राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध कार्य करते हैं और जो ऐसा नहीं करते हैं। यह बात हमारे सामने विचाराधीन मामले में लागू नहीं हो सकती। अनुच्छेद 19(2) का संशोधन इस रूप में किया गया है जिसमें कि

(10) 1957 एस० सी० आर० 860.
(11) 1950 एस० सी० आर० 308.

उसके परिरक्षण का विस्तार ऐसी विधि पर भी होता है जो सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाती है और आक्षेपित अधिनियम की दो धाराओं में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, यह इन धाराओं में विनिर्दिष्ट रूप से वर्णित प्रयोजनों के लिए किन्तु किसी अन्य प्रयोजन के लिए नहीं, स्पष्ट रूप से और खुले तौर से शक्तियों के प्रयोग को परिसीमित करती है।"

हम यहां यह कह देना चाहते हैं कि हम इस प्रभेद से आदरपूर्वक सहमत हैं।

इसके पश्चात् **सुप्रिन्टेंडेंट सेन्ट्रल प्रिजन, फतेहगढ़** बनाम **राम मनोहर लोहिया** (12) के मामले का विनिश्चय हुआ। इस मामले में "सार्वजनिक व्यवस्था के हित में" अभिव्यक्ति पर विचार किया गया था। न्यायाधीश सुब्बाराव (जैसा कि वे उस समय थे) ने इस शब्दावली की व्याख्या की, विशेषकर सार्वजनिक व्यवस्था शब्दावली की। हम पहले **रमेश थापर के मामले** (3) में न्या० पातंजलि शास्त्री (तत्पश्चात् मुख्य न्यायाधीश) के मत का निर्देश कर चुके हैं। न्यायाधीश शास्त्री ने लोक प्रशान्ति विक्षुब्ध करने वाले अपराधों (जिनके बारे में उनका मत था कि ये केवल स्थानीय महत्व के सार्वजनिक व्यवस्था के विरुद्ध सिद्धान्त रूप में अपराध हैं 'और सार्वजनिक अव्यवस्था वाले गम्भीर तथा उग्र ऐसे अपराधों' जिनसे राज्य की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न होता है, के बीच प्रभेद किया था। न्यायाधीश सुब्बाराव ने भी बृजभूषण के मामले में न्यायाधीश फजल अली के मत को उद्धृत किया था जो इस प्रकार है—

> "जब हम इस मामले पर इस दृष्टि से विचार करते हैं तब हम यह पाते हैं कि "सार्वजनिक अव्यवस्था" शब्द इतने व्यापक हैं कि इनके अन्तर्गत छोटे-मोटे बलवे या दंगे और ऐसे अन्य मामले जिनमें शान्ति विक्षुब्ध होती हो या छोटे समूह या व्यक्ति प्रभावित होते हैं, आते हैं, किन्तु लोक अक्षेम (पब्लिक अनसेफ्टी) (या राज्य की असुरक्षा) (इनसिक्योरिटी) प्रायिक रूप से ऐसे गंभीर आन्तरिक विक्षोभों और ऐसे लोक प्रशान्ति के विक्षोभों से सम्बद्ध होते हैं जिनसे राज्य की सुरक्षा को खतरा होता है (पृष्ठ 612)।"

इन मतों के बल पर न्यायाधीश सुब्बाराव ने यह निष्कर्ष निकाला था कि "सार्वजनिक व्यवस्था" शब्दावली उसी तरह की है जैसी कि "लोक परिशान्ति (पब्लिक पीस) और लोक क्षेम" और आगे उन्होंने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था—

> "संभवतः इन दोनों विनिश्चयों के प्रभाव को दूर करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 19(2) में "सार्वजनिक व्यवस्था" अभिव्यक्ति को संविधान (प्रथम

---

(12) (1960) 2 एस० सी० आर० 821.

संशोधन) अधिनियम, 1951 को इस दृष्टि से अन्तःस्थापित किया गया था जिसमें कि अनुच्छेद के खंड (2) के अधीन अनुज्ञेय निर्बन्धनों के विस्तार के अन्तर्गत केवल स्थानीय महत्व के शान्तिभंग करने वाले अपराधों को लाया जाए।"

न्यायाधीश सुब्बाराव ने यह सिद्ध करने के लिए कि "सार्वजनिक व्यवस्था" के विरुद्ध अपराधों को भी लोक क्षेम और लोक परिशान्ति के विरुद्ध अपराधों के रूप में समझा जाता है **कैन्टेवेल** बनाम **कन्केटिकट**(13) में यूनाइटेड स्टेट्स सुप्रीम कोर्ट के मत का उद्धरण दिया था। उन्होंने अमरीकी संविधान की एक पाठ्य पुस्तक के एक लेखांश का हवाला दिया है जो इस प्रकार है—

"सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में गलियों और लोक स्थानों में ध्वनि विस्तारक यंत्रों से "ऊंची और कर्कश आवाज" उत्पन्न करने का निषेध राज्य कर सकता है और उसके लिए दंड दे सकता है, सार्वजनिक रूप से विचार-विमर्श करने के समय और स्थान का नियमन कर सकता है और वाक्स्वातंत्र्य का प्रयोग करने के लिए सार्वजनिक गलियों के प्रयोग का नियमन कर सकता है, सभाओं और जमावों में टोकाटोकी करने वालों को बाहर निकाले जाने के लिए उपबंध कर सकता है और परिशान्ति को तत्काल भंग करने या बलवे का उद्दीपन करने वाले ऐसे भाषणों के लिए दंड की व्यवस्था कर सकता है जो "लोक असुविधा, क्षोभ और अशान्ति उत्पन्न करने वाले भाषणों से भिन्न हैं।"

उन्होंने इंग्लैंड के पब्लिक आर्डर ऐक्ट, 1936 के प्रति भी निर्देश किया है।

किन्तु न्यायाधीश सुब्बाराव ने निम्नलिखित मत व्यक्त करते हुए अमरीका और इंग्लैंड की नजीरों में प्रभेद किया है—

" 'किन्तु भारत में सार्वजनिक व्यवस्था' की इस व्यापक विचारधारा को संविधान के अनुच्छेद 19(2) के अधीन चार विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत बांटा गया है। यह अनुच्छेद राज्य की सुरक्षा के हितों में, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध में, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टता या नैतिकता के हितों में, या न्यायालय अवमान, मानहानि या अपराध उद्दीपन के सम्बन्ध में युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करता है। इसमें वर्णित सभी आधारों को एक साधारण शीर्षक "सार्वजनिक व्यवस्था" के अन्तर्गत लाया जा सकता है, जो इसके अधीन व्यापक अर्थ में होगा। किन्तु विभिन्न आधारों को एक साथ देखने पर यह मालूम होता है कि कभी कभी यह एक दूसरे को अन्तर्वलित कर लेते हैं किन्तु मामूली तौर पर इनका आशय एक दूसरे का अपवर्जन करना है। इसलिए "सार्वजनिक व्यवस्था"

---

(13) (1940) 310 यू० एस० 296.

ऐसी बात है जो अन्य बातों से अलग है। इस परिसीमित अर्थ में, विशेषकर संविधान के संशोधन के इतिहास की दृष्टि से, यह प्रस्थापना की जा सकती है कि सार्वजनिक व्यवस्था शब्द "लोक परिशान्ति, क्षेम और प्रशान्ति" के पर्यायवाची हैं।"

उन्होंने मामलों के विश्लेषण को जिस रुप में संक्षिप्त किया था उसे उन्हीं के शब्दों में यहां दिया जा रहा है —

> " 'सार्वजनिक व्यवस्था' लोक क्षेम और प्रशान्ति का पर्यायवाची है। यह सार्वजनिक व्यवस्था ऐसी अव्यवस्था की स्थिति का अभाव है जिसमें स्थानीय महत्व के विघ्न आते हैं और जो राष्ट्रीय हलचलों जैसे क्रान्ति, असैनिक लड़ाई, युद्ध, जिससे कि राज्य की सुरक्षा पर असर पड़ता है, से भिन्न है।"

हम यहां यह मत प्रकट कर देना चाहते हैं कि सार्वजनिक व्यवस्था और लोक प्रशान्ति में एक दूसरे को आलिप्त करने की बात केवल आंशिक रूप में है। लोक प्रशान्ति बहुत ही व्यापक अभिव्यक्ति है और उसके अन्तर्गत ऐसी बहुत सी बातें आती हैं जो सार्वजनिक व्यवस्था के रूप में वर्णित नहीं की जा सकतीं। सार्वजनिक व्यवस्था और लोक प्रशान्ति शब्द एक दूसरे को कुछ हद तक आलिप्त करते हैं किन्तु ऐसी बातें भी होती हैं जो सार्वजनिक व्यवस्था में विघ्न पैदा किए बिना लोक प्रशान्ति में विघ्न पैदा कर सकती हैं। कोई व्यक्ति अपने मकान में मध्यरात्रि के समय जोर से संगीत द्वारा लोक प्रशान्ति में विघ्न डाल सकता है किन्तु वह सार्वजनिक अव्यवस्था कारित नहीं करता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि सार्वजनिक व्यवस्था में भी राज्य की अव्यवस्था का अभाव और समाज में अक्षोभ अपेक्षित है किन्तु इससे अधिक भी इसमें अपेक्षित है। इसका वही अर्थ है जो फ्रेंच भाषा में आर्डरे पब्लिके का अर्थ होता है और जिसकी परिभाषा यह की गई है कि विद्रोह, बलवा, अशान्ति या हिंसा के अपराधों के अभाव को आर्डरे पब्लिके कहते हैं। "सार्वजनिक व्यवस्था" अभिव्यक्ति के अन्तर्गत ऐसे सभी कार्यों का अभाव रहता है जो राज्य की सुरक्षा के लिए खतरा हैं और इसके अन्तर्गत ऐसे भी कार्य हैं जिन्हें आर्डरे पब्लिके अभिव्यक्ति द्वारा व्यक्त किया गया है जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है किन्तु इसके अन्तर्गत ऐसे कार्य नहीं आते हैं जिनसे दूसरों की शान्ति में विघ्न पड़ता है।

इंग्लैंड और अमेरिका की नज़ीरों और विधान से बहुत सहायता नहीं मिलती है। पब्लिक आर्डर ऐक्ट, 1936 इस कारण पारित किया गया था कि 1936 में विभिन्न राजनैतिक संगठनों ने वर्दी पहन कर मार्च किया था और उससे बलवे हुए थे। अमेरिका में प्रथम संशोधन से जो स्वतंत्रताएं मिली थीं उनके लिए ऐसी कोई शर्त नहीं थी जैसी कि भारत में है और वहां के विनिर्णयों को हमारे यहां के संविधान पर लागू करने में गलती हो सकती है।

इस न्यायालय ने जिस अगले मामले का विनिश्चय किया उसकी रिपोर्ट **डाक्टर**

राम मनोहर लोहिया बनाम **बिहार राज्य और कुछ अन्य**(14) में दी गई है। इस मामले में यह बतलाया गया था कि "सार्वजनिक व्यवस्था कायम रखने" शब्दावली की व्याख्या करने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

> "इसके लिए एक मध्य बिन्दु वाले तीन वृत्त की कल्पना करनी पड़ेगी। विधि और व्यवस्था सबसे बड़ा वृत्त है जिसके अन्दर एक दूसरा वृत्त सार्वजनिक व्यवस्था का है और सबसे छोटा वृत्त राज्य की सुरक्षा का है।"

लोक प्रशान्ति में विघ्न डालने के सभी मामले इस सबसे बड़े वृत्त में आते हैं किन्तु उनमें से कुछ मामले "सार्वजनिक व्यवस्था कायम रखने" शब्दावली के प्रयोजन के लिए "सार्वजनिक व्यवस्था" से बाहर हैं। इसी तरह से "सार्वजनिक व्यवस्था" में प्रत्येक विघ्न अनिवार्य रूप से ऐसा कार्य नहीं होता है जिससे राज्य की सुरक्षा को खतरा होने की संभाव्यता हो।

इस कसौटी को अपनाने पर हम यह कह सकते हैं कि राज्य एक केन्द्र है और समाज उसको चारों ओर से घेरे हुए है। समाज की विक्षुब्धता का विस्तार जीवन की शान्ति से लेकर राज्य के खतरे की विक्षुब्धताओं तक है। इस सबसे बड़े वृत्त के घेरे से जब हम मध्यबिन्दु की ओर अग्रसर होते हैं तो कार्य गंभीर से गंभीरतर होते जाते हैं। इस सबसे बड़े वृत्त के मध्य बिन्दु की ओर जाने पर हम पहले लोक प्रशान्ति से गुजरते हैं तब सार्वजनिक व्यवस्था से और सबसे अन्त में राज्य की सुरक्षा से। निवारक निरोध के प्रसंग में "सार्वजनिक व्यवस्था कायम रखने" शब्दावली पर विचार करते हुए हमने सुसंगत अधिनियम में इस अभिव्यक्ति को वहां तक सीमित रखा है जहां तक कि दूसरा वृत्त है और जो कुछ सबसे बड़े वृत्त में है उसे छोड़ दिया था। किन्तु यह बात हमेशा लागू नहीं हो सकती क्योंकि जीवन की साधारण स्थिति पर प्रभाव डालने वाले स्थानीय छोटे विघ्नों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे दूसरे अर्थ में लोक व्यवस्था पर प्रभाव डालते हैं अर्थात् दूसरों की सुरक्षा की दृष्टि से विधि के अनुपालन की स्थिति में विघ्न डालते हैं। हमारे विचार से संविधान में "सार्वजनिक व्यवस्था के हितों में" जो शब्दावली प्रयुक्त की गई है उसके अन्तर्गत न केवल ऐसे कार्य आते हैं जो राज्य की सुरक्षा में विघ्न डालते हैं या यथा वर्णित सार्वजनिक व्यवस्था (पब्लिक आर्डर) के अन्तर्गत आते हैं बल्कि कतिपय कार्य ऐसे भी आते हैं जो लोक प्रशान्ति में विघ्न डालते हैं या शान्ति भंग करते हैं। इस अभिव्यक्ति का संकुचित अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जैसा कि पहले कहा जा चुका है "सार्वजनिक व्यवस्था के हित में" अभिव्यक्ति बहुत ही व्यापक है। "सार्वजनिक व्यवस्था कायम रखने" की बाबत ऐसी विशेष विधियों के संदर्भ में जो कुछ कहा जाता है, जिनसे व्यक्तियों का निरोध विचारण किए बिना कार्यपालिका के केवल वैयक्तिक अवधारण पर

---

(14) (1966) 1 एस० सी० आर० 709.

किया जा सकता है। यही बात अन्य परिस्थितियों में नहीं कही जा सकती। पूर्ववर्ती स्थिति में इस न्यायालय ने इस शब्दावली का अर्थ ऐसी गंभीरतर घटनाओं तक ही सीमित रखा है जिनमें विधि और व्यवस्था के ऐसे मामले होते हैं जो लोक प्रशान्ति में विघ्न डालने वाले नहीं बल्कि सार्वजनिक व्यवस्था (आर्डरे पब्लिके) में विघ्न डालने वाले होते हैं।

यह तर्क दिया गया था कि दो प्रकार के निरोध नहीं हो सकते हैं, एक तो दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन मजिस्ट्रेटों द्वारा और दूसरा संविधान के अनुच्छेद 22 के अधीन निवारक निरोध के लिए बनाई गई विधियों के अधीन। हमारी राय यह है कि इन दोनों का क्षेत्र सर्वथा भिन्न है और इसलिए यह अच्छा वर्गीकरण है। ऊपर हमने जो कुछ कहा है उस दृष्टि से हम अब दंड प्रक्रिया संहिता के आक्षेपित उपबंधों पर विचार करेंगे।

सबसे पहले हम दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 पर विचार करते हैं। इसे अध्याय XI में स्थान दिया गया है। इसमें केवल एक धारा है। इसका शीर्षक है, "न्यूसेन्स या आशंकित खतरे के अर्जेण्ट मामलों में अस्थायी आदेश"। यह धारा न्यूसेंस या आशंकित खतरे के अर्जेण्ट मामले में आत्यंतिक आदेश तुरन्त निकालने की शक्ति प्रदान करती है। ऐसे आदेश विनिर्दिष्ट वर्गों के मजिस्ट्रेटों द्वारा उस समय दिए जा सकते हैं जब उनकी राय में इस धारा के अधीन कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार हैं और तत्काल निरोध या शीघ्र उपचार वांछनीय है। इसमें मजिस्ट्रेट से यह अपेक्षा की गई है कि वह मामले के सारवान् तथ्यों को उपवर्णित करते हुए लिखित आदेश जारी करे और यह आदेश उसी रूप में तामील होना चाहिए जैसा कि संहिता की धारा 134 में उपबंधित है। इस आदेश में निम्नलिखित निदेश दिए जा सकते हैं—

(क) कोई व्यक्ति अमुक कार्य करने से अपने को प्रविरत करेगा, या

(ख) अपने कब्जे में या अपने प्रबन्धाधीन अमुक सम्पत्ति के सम्बन्ध में अमुक आदेश प्राप्त करेगा।

ऐसा आदेश करने के लिए आधार ये हैं कि मजिस्ट्रेट की यह राय है कि ऐसे निदेश से (1) बाधा, (2) क्षोभ, या (3) विधिपूर्वक नियोजित किसी व्यक्ति को क्षति या (4) मानवजीवन, स्वास्थ्य या क्षेम को खतरा या (5) लोक प्रशान्ति में विघ्न या (6) बलवा या (7) दंगे, को

(क) निवारित करने की संभाव्यता है, या

(ख) निवारित कर सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस धारा में ऐसा आदेश करने का उपबंध है जो या तो (क) निषेधात्मक है या (ख) आज्ञापक है, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है।

इसकी क्षमता यह है कि इससे कुछ अवांछनीय घटनाओं को—(क) निवारित करने की संभाव्यता है या (ख) उन्हें निवारित कर सकता है। इन घटनाओं का सारांश निम्नलिखित है—

(i) विधिपूर्वक नियोजित किसी व्यक्ति को बाधा, क्षोभ या क्षति, या

(ii) मानवजीवन, स्वास्थ्य या क्षेम को खतरा, या

(iii) लोक प्रशान्ति में विघ्न या बलवा या दंगा।

इसके लिए जो प्रक्रिया अपनाई जानी है उसे आगे कहा गया है। यदि उपधारा (2) के अधीन आदेश सम्यक् रूप से तामील करने के लिए समय नहीं है या तामील नहीं किया जा सकता है तो एकपक्षीय आदेश पारित किया जा सकता है। उपधारा (3) के अधीन आदेश व्यक्ति-विशेष को अथवा सामान्य रूप से जनसाधारण को, जबकि वे स्थान विशेष में आते-जाते हों, निर्दिष्ट किया जा सकता है। उपधारा (4) के अधीन कोई भी मजिस्ट्रेट या तो स्वप्रेरणा पर या किसी व्यथित व्यक्ति के आवेदन पर किसी ऐसे आदेश को विखंडित या प्रवर्तित कर सकता है जो उसने या उसके अधीनस्थ किसी मजिस्ट्रेट या पद में उसके पूर्ववर्ती ने इस धारा के अधीन दिया हो। उपधारा (5) के अधीन जब मजिस्ट्रेट से व्यथित व्यक्ति आवेदन करता है तब मजिस्ट्रेट को उसकी सुनवाई करनी चाहिए जिसमें कि वह आदेश के विरुद्ध हेतुक दर्शित कर सके और यदि मजिस्ट्रेट आवेदन को पूर्णतया या भागतः नामंजूर करता है तो मजिस्ट्रेट अपने कारणों को अभिलिखित करेगा। यह उपधारा आज्ञापक है। मजिस्ट्रेट का कोई ऐसा आदेश, आदेश करने की तारीख से दो मास के पश्चात् लागू नहीं रहता है। किन्तु राज्य सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा इस कालावधि को बढ़ा सकती है परन्तु यह केवल ऐसे ही मामलों में जिनमें मानवजीवन, स्वास्थ्य या क्षेम को खतरा हो या जब बलवा या दंगा होने की संभाव्यता हो। किन्तु उपधारा के द्वितीय भाग को **बिहार राज्य बनाम के० के० मिश्र** (6) में संविधान के अनुच्छेद 19 का अतिक्रामक घोषित किया गया था। यहां यह बता देना चाहिए कि विधिपूर्वक प्रख्यापित आदेश की अवज्ञा को भारतीय दंड संहिता की धारा 128 के अधीन तब अपराध बताया गया है जब ऐसी अवज्ञा से विधिपूर्वक नियोजित व्यक्तियों को बाधा, क्षोभ या क्षति कारित होती है। यह अपराध एक मास के सादा कारावास से या 200 रुपये के जुर्माने से या दोनों से दंडनीय है।

धारा 144 के अधीन कार्यवाही का तात्पर्य यह है कि स्थिति अर्जेंट हो और कार्यवाही की प्रभावकारिता इस बात में है कि ऐसी कार्यवाही से कुछ हानिकारक घटनाओं को निवारित करने की संभाव्यता हो। चूंकि आत्यन्तिक रूप से और एकपक्षीय रूप में भी कार्य करना संभव है इसलिए यह स्पष्ट है कि आपात (एमर्जेंसी) आकस्मिक होना चाहिए और उसके परिणाम काफी गम्भीर होने चाहिए। इस बात के बिना इस शक्ति के प्रयोग के लिए कोई न्यायौचित्य नहीं रह जाएगा। यह शक्ति

प्रशासनिक कार्य से उत्पन्न होने वाली मामूली शक्ति नहीं है बल्कि न्यायिक रीति में प्रयोक्तव्य शक्ति है इस शक्ति के प्रयोग के बारे में तथा उसकी प्रभावकारिता और उसके लागू किए जाने के विस्तार के बारे में आगे न्यायिक संवीक्षा की जा सकती है। ऐसी कोई साधारण प्रस्थापना नहीं है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 के अधीन कोई आदेश साक्ष्य लिए बिना नहीं पारित किया जा सकता है। देखिए **मुसम्मात जगरूपाकुट्टी** बनाम **चौबे नारायण**(15)। हमारी राय में इस मामले में सही प्रस्थापना अधिकथित की गई है। जिस ढंग से शक्ति का प्रयोग करने के लिए परिस्थितियों का वर्णन किया जाता है उसी से ये मूल तथ्य उद्भूत होते हैं। लोक प्रशान्ति में विक्षुब्धताओं, बलवों और दंगों को यदि समय से निवारित नहीं किया गया तो उनसे सार्वजनिक व्यवस्था ध्वस होती है। मानवजीवन, स्वास्थ्य और क्षेम के लिए खतरनाक न्यूसेन्सों को निःसन्देह कम करना और निवारित करना ही पड़ता है किन्तु हमें धारा के इस भाग से कोई सरोकार नहीं है और यहां पर इस भाग की विधिमान्यता के बारे में विनिश्चय करना आवश्यक नहीं है। जहां तक कि धारा के अन्य भागों का सम्बन्ध है, इस शक्ति की मुख्य बात यह है कि समाज को गंभीर विक्षुब्धताओं के भय से मुक्त रखा जाए। यह धारा उन व्यक्तियों के विरुद्ध है जो अन्य व्यक्तियों द्वारा विधिक अधिकारों के प्रयोग को रोकने का प्रयत्न करते हैं या लोक क्षेम और स्वास्थ्य को खतरा पहुंचाते हैं। यदि ऐसी बात हो तो यह मामला उन निर्बन्धनों के अन्तर्गत आना चाहिए जिन्हें संविधान में स्वतः इस रूप में दृष्टिगत किया गया है कि यह कार्यवाही सार्वजनिक व्यवस्था के हित में या जनसाधारण के हित में अनुज्ञेय है। किन्तु हम यह कह देना चाहते हैं कि क्षोभ का रूप पर्याप्त रूप से इतना गम्भीर होना चाहिए जिससे कि मामला सार्वजनिक व्यवस्था के हितों के अन्तर्गत आ जाए।

किन्तु आलोचना यह है कि इस धारा में अतिविस्तार का दोष है और इस धारा के शब्द इतने व्यापक हैं कि उनसे ऐसी आत्यन्तिक शक्ति प्रदान की गई है जिसका प्रयोग अनुचित मामले में भी किया जा सकता है और तब इसके सिवाय और कोई उपचार नहीं रह जाएगा कि मजिस्ट्रेट से यह मांग की जाए कि वह इस आदेश को रद्द करे जिसे वह चाहे तो रद्द नहीं कर सकता है। उच्च न्यायालय में उसके इस अवधारण के विरुद्ध पुनरीक्षण नाममात्र के लिए हो सकता है क्योंकि न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप किए जाने से पहले ही रिष्टि (मिसचीफ) कर दी गई होगी। इसलिए दलील यह दी गई है कि आदेश किए जाने से पूर्व ही जांच होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति प्रभावित हुआ है उसे अपनी स्थिति के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देने का भार उस पर नहीं पड़ना चाहिए। यह भी बात है कि यह आदेश ऐसा साधारण हो सकता है जिससे कि विशिष्ट पक्षकार ही नहीं बल्कि निर्दोष व्यक्ति भी प्रभावित हो सकता है, उदाहरणार्थ जब सभाओं, जलूसों और संगीत इत्यादि पर प्रतिबंध लगाने का आदेश दिया गया हो।

---

(15) 37 क्रिम० सी० जे० 95.

चूंकि आदेश का प्रभाव सार्वजनिक व्यवस्था के हित में और जनसाधारण के हितों में होता है, इसलिए ऐसे अवसर आ सकते हैं जब ऐसे व्यक्तियों, जिनके आचरण पर नियंत्रण करना चाहिए और ऐसे व्यक्तियों, जिनके आचरण स्पष्ट हैं, के बीच विभेद करना सम्भव न हो। जैसा कि **बाबूलाल पराठे**([2]) के मामले में बताया गया था कि उसमें दो प्रतिद्वन्दी ट्रेड यूनियनों के बीच झड़प हो गई थी और यह कहना कठिन था कि कोई व्यक्ति यूनियनों में से एक यूनियन का सदस्य है या जनसाधारण का एक सदस्य है, इसलिए जनसाधारण के क्रियाकलापों को निर्बन्धित करने वाला आदेश उस विशिष्ट क्षेत्र में न्यायोचित था।

यहां यह बता देना चाहिए कि आदेश की केवल अवज्ञा इस अपराध को गठित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके साथ ही कोई अतिरिक्त बाधा, क्षोभ या मानवजीवन, स्वास्थ्य या क्षेम के लिए खतरा या बलवा या दंगा होना चाहिए और ऐसे होने पर भारतीय दंड संहिता की धारा 128 के अधीन अपराध गठित होता है। इस अपराध के लिए दोषी व्यक्ति को तब अनेक उपाय उपलब्ध होते हैं। वह अपने विरुद्ध आदेश को हटाने की मांग कर सकता है। वह पुनरीक्षण फाइल कर सकता है और रिट के लिए पिटीशन भी फाइल कर सकता है। किन्तु कोई व्यक्ति उस समय इच्छानुसार कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होने की मांग नहीं कर सकता जब निरोधात्मक कार्यवाही करने के प्रयोजन के लिए धारा में वर्णित रूप में उसके आचरण को समझने के आधार मौजूद हैं। मामूली तौर से यह आदेश ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध किया जा सकता है जो विशिष्ट ढंग से कार्य करता हुआ पाया जाए या उसके द्वारा कार्य किए जाने की संभाव्यता है। जब ऐसा कार्य करने वाले व्यक्तियों की संख्या इतनी अधिक होती है कि उनके और जनसाधारण के बीच यह विभेद करना उस खतरे से खाली नहीं होता है जो कि धारा में वर्णित है, तब साधारण आदेश इतना आवश्यक हो सकता है। इस प्रकार से साधारण आदेश न्यायोचित होता है। किन्तु यदि यह कार्यवाही बहुत ही सामान्य है तो आदेश को ऐसे समुचित उपायों द्वारा प्रश्नास्पद किया जा सकता है जिनके लिए विधि में पर्याप्त उपबंध किए गए हैं।

इस न्यायालय ने **बाबूलाल पराठे के मामले** में इन सभी विषयों पर विचार किया था। उस मामले में न्यायालय ने इस बात पर जोर दिया था कि ये निर्बन्धन अस्थायी हैं और इस शक्ति का प्रयोग ऐसा वरिष्ठ मजिस्ट्रेट करता है जिसे सारवान् तथ्यों को उपवर्णित करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में इसे यह कह सकते हैं कि उसे न्यायिक शक्ति के प्रयोग में जांच करनी पड़ती है और आदेश के लिए कारण बताने पड़ते हैं और व्यथित व्यक्ति को यह अवसर प्रदान करना पड़ता है कि वह या तो मजिस्ट्रेट द्वारा या वरिष्ठ न्यायालयों द्वारा उस आदेश को विखंडित करा सके। हमने इन सभी विषयों पर पुनर्विचार कर लिया है और हमारा यह समाधान हो गया है कि इस आदेश से प्रभावित व्यक्ति को पर्याप्त सुरक्षाएं उपलब्ध हैं और इसलिए यह निर्बन्धन युक्तियुक्त हैं। हमारी यह राय है कि यदि धारा 144 को समुचित रूप से लागू किया जाए तो यह असांविधानिक नहीं है और यह तथ्य कि इस धारा का दुरुपयोग किया जा सकता है इस धारा को अवैध घोषित

करने के लिए कोई आधार नहीं है। इसलिए इससे बचने का यही उपाय है कि यह प्रश्न उठाया जाए कि क्या इस शक्ति का प्रयोग विधि द्वारा मान्य प्रयोग से अधिक है।

अब हम दंड प्रक्रिया संहिता के अध्याय 8 की सांविधानिक विधिमान्यता पर विचार करेंगे। यह अध्याय संहिता के भाग 4 में है जिसका शीर्षक असाधारण है "अपराधों का निवारण"। यह अध्याय तीन खण्डों क, ख और ग में विभाजित है। इस अध्याय का तात्पर्य इसके उपशीर्षक से जाना जा सकता है जो इस प्रकार है, "परिशान्ति कायम रखने और सदाचार के लिए प्रतिभूति के विषय में।"

खण्ड-क दोषसिद्धि हो जाने पर परिशांति कायम रखने के लिए प्रतिभूति के विषय में है। इसमें केवल एक धारा (धारा 106) है और उसमें यह उपबंध किया गया है कि कतिपय अपराधों के लिए दोषसिद्धि पर न्यायालय दोषसिद्ध व्यक्ति को दंडादेश पारित करते समय, यदि न्यायालय की यह राय है कि ऐसे व्यक्ति से यह अपेक्षा करना आवश्यक है कि वह परिशांति कायम रखने के लिए बंधपत्र निष्पादित करे तो, उससे तीन वर्ष से अनधिक कालावधि में परिशांति कायम रखने के लिए बंधपत्र, प्रतिभुओं सहित या रहित, निष्पादित करने की मांग कर सकता है। जितनी राशि के लिए बंधपत्र लिया जाता है वह राशि उस व्यक्ति के साधनों की आनुपातिक होती है और यदि दोषसिद्धि अन्ततः अपास्त कर दी जाती है तो यह बंधपत्र शून्य हो जाता है। यह धारा ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध है जिनका आंशिक आचरण लोक के लिए खतरनाक साबित हो चुका है और इसका आशय लोक प्रशान्ति और परिशांति सुरक्षित करना है।

इसके पश्चात् खण्ड-ख में 12 धाराएं (धारा 107 से लेकर 110, और धारा 112 से लेकर 119) हैं और यह खण्ड उन मामलों को लागू होता है जो धारा 106 में वर्णित मामलों से भिन्न हैं। इनमें से धारा 107 परिशांति कायम रखने के लिए साधारणतया प्रतिभूति लेने के विषय में है। धारा 108 राजद्रोहात्मक बातों को फैलाने वाले व्यक्तियों से सदाचार के लिए प्रतिभूति लेने के विषय में है। धारा 109 आहिंडकों (वेगरैन्टस्) और संदेहास्पद (सस्पेकटेड) व्यक्तियों से सदाचार के लिए प्रतिभूति लेने के लिए है और धारा 110 आभ्यासिक अपराधियों से सदाचार के लिए प्रतिभूति लेने के विषय में है। धारा 112 से 119 तक में वह प्रक्रिया अधिकथित है जिसका अनुसरण इन मामलों में करना होता है। हमारा सरोकार इन मामलों में धारा 107 के उपबन्धों से है और इसलिए हमें धारा 108 से 110 के प्रति निर्देश करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अब यहां धारा 107 का सारांश दिया जा रहा है। यह धारा कतिपय विनिर्दिष्ट वर्गों के मजिस्ट्रेटों को यह शक्ति प्रदान करती है कि वे किसी व्यक्ति को आदेश देकर उससे यह मांग कर सकते हैं कि उसे एक वर्ष से अनधिक कालावधि के लिए परिशांति कायम रखने के लिए, प्रतिभुओं सहित या रहित, जैसा कि मजिस्ट्रेट नियत करना ठीक

समझे, बन्धपत्र निष्पादित करने के लिए क्यों आदिष्ट न किया जाए ? ऐसी कार्यवाही करने के लिए शर्त यह है कि मजिस्ट्रेट को यह इत्तिला मिलने की सम्भाव्यता है कि कोई व्यक्ति परिशांति भंग करेगा या लोक प्रशान्ति विक्षुब्ध करेगा या कोई ऐसा सदोष कार्य करेगा जिससे परिशांति भंग हो जाएगी या लोक प्रशान्ति विक्षुब्ध हो जाएगी। मजिस्ट्रेट इस धारा के अधीन तक कार्यवाही कर सकेगा जब वह व्यक्ति उसकी अधिकारिता की सीमाओं के अन्दर हो या वह स्थान जहां परिशांति भंग या विक्षोभ की आशंका है, ऐसे मजिस्ट्रेट की अधिकारिता की सीमाओं के भीतर हो। आगे इस धारा में ऐसे मजिस्ट्रेट को भी, जो सशक्त नहीं है, यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह कार्यवाही करे, ऐसा कार्य करने के लिए अपने कारणों को अभिलिखित करे और तब उस व्यक्ति की गिरफ्तारी के लिए (यदि वह व्यक्ति पहले से ही अभिरक्षा में या न्यायालय के समक्ष न हो) आदेश इस आशय से दे जिसमें कि वह व्यक्ति ऐसे मजिस्ट्रेट के समक्ष भेजा जाए जो ऐसे मामले पर विचार करने के लिए सशक्त हो और इसके साथ वह मजिस्ट्रेट अपने कारणों की प्रतिलिपि भी भेजेगा। जिस मजिस्ट्रेट के समक्ष ऐसा व्यक्ति भेजा जाता है वह अपने विवेकाधिकार में उस व्यक्ति को अपने द्वारा आगे कार्यवाही किए जाने तक अभिरक्षा में निरुद्ध कर सकता है।

यह धारा ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध है जो अपने आचरण से परिशांति भंग या लोक प्रशान्ति को विक्षुब्ध करने की युक्तियुक्त आशंका कारित करते हैं। यह निवारात्मक न्याय का एक दृष्टांत है जिस न्याय का प्रशासन न्यायालयों द्वारा किया जाना आशयित है। यह उपबन्ध पूर्ववर्ती उपबंध की तरह ही सुव्यवस्थित समाज की सहायता के लिए है और इससे परिशांति तथा लोक प्रशान्ति के लिए ध्वंसात्मक आचरण को शुरू में ही दबा देना ईप्सित है। इस प्रयोजन के लिए मजिस्ट्रेटों को व्यापक विवेकाधीन शक्तियों से विनिहित किया गया है जो लोक परिशांति और व्यवस्था के परिरक्षण के लिए है। इसलिए राज्य ऐसे उपबन्धों के न्यायौचित्य का दावा इस आधार पर करता है कि ये कृत्य राज्य के होते हैं जिसके अन्तर्गत अपराधियों को केवल दण्ड ही देना नहीं है बल्कि अपराधों का यथा-सम्भव निवारण भी होता है।

ये दोनों धाराएं एक ही नीति के समरूपी भाग हैं। पहला भाग तब लागू होता जब किसी व्यक्ति की दोषसिद्धि के कारण उसके विगत आचरण से भविष्य के लिए आशंका होती है और दूसरा भाग तब लागू होता है जब इत्तिला मिलने पर मजिस्ट्रेट की यह राय होती है कि यदि ऐसे व्यक्ति को कार्य करने से निवारित नहीं किया गया तो यह संभाव्यता है कि वह व्यक्ति लोक परिशान्ति और लोक प्रशान्ति के लिए हानिकारक रूप में कार्य करेगा। तर्क यह है कि ये दोनों धाराएं (विशेषकर धारा 107) संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क), (ख), (ग) और (घ) द्वारा प्रत्याभूत वैयक्तिक स्वातंत्र्य के लिए विनाशकारी हैं और इस अनुच्छेद के खण्डों 2 से लेकर 5 तक में जो निर्बन्धन अनुध्यात हैं उनसे इनकी रक्षा नहीं होती है। यह भी दलील दी गई है कि इन धाराओं के आगे की धाराओं में समुचित प्रक्रिया सम्बन्धी सुरक्षाएं नहीं हैं। इससे पूर्व कि हम इन दलीलों पर

1970(10) eILR(PAT) SC 16

विचार करें, हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम खण्ड-ख की धाराओं 112 से 119 तक और खण्ड-ग की धाराओं 120 से 126-क तक का संक्षेप में विचार कर लें।

हम धारा 107 के उपबन्धों को देख चुके हैं। इस धारा में यह कहा गया है कि "एतस्मिन्पश्चात् उपबन्धित" प्रकार से कार्यवाही की जानी है और इससे यह स्पष्टतया इंगित होता है कि मजिस्ट्रेट ऐसे मामले में प्रक्रिया से कोई सारवान् विस्तार तक विचलन करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। यह अत्यन्त हितकर है क्योंकि इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रश्न अन्तर्वलित है और विधि ठीक ही इस बात के लिए आतुर है कि यह स्वतन्त्रता केवल विधि की अपनी प्रक्रिया के अनुसार कम की जानी चाहिए और सम्पृक्त मजिस्ट्रेट की इच्छानुसार इसे कम नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए हमारे लिए यह श्रेयस्कर है कि हम उन सुरक्षाओं पर जोर दें जो इस प्रक्रिया द्वारा प्रदान की गई हैं क्योंकि सार्वजनिक व्यवस्था के हित में या जनसाधारण के हितों में निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता का प्रश्न विचाराधीन रहेगा।

यह प्रक्रिया धारा 112 से प्रारंभ होती है। इसमें यह अपेक्षा की गई है कि धारा 107 के अधीन कार्य करने वाला मजिस्ट्रेट लिखित आदेश देगा जिसमें वह प्राप्त इत्तिला का सार, बंधपत्र की रकम, तथा वह अवधि, जिसके लिए यह आदेश प्रवृत्त रहना है, और अपेक्षित प्रतिभूतियों की (यदि कोई हो तो) संख्या, हैसियत और वर्ग को उपवर्णित करेगा। चूंकि जिस व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही की गई है उसे हेतुक दर्शित करना पड़ता है इसलिए यह स्वाभाविक ही है उसे अपने द्वारा परिशान्ति भंग या लोक प्रशान्ति विक्षुब्ध किए जाने की आशंका के आधार मालूम होने चाहिए। यद्यपि इस धारा में "इत्तिला के सार" की बात कही गई है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आदेश पूर्ण नहीं होना चाहिए। इस आदेश में इत्तिला को ज्यों का त्यों दोहराने की आवश्यकता नहीं है किन्तु इस बात की समुचित सूचना मिलनी चाहिए कि मजिस्ट्रेट ने किस कारण से कार्यवाही की थी। यह आदेश अधिकारिता के लिए मूल आधार है और "सार" शब्द से यह अर्थ है कि इत्तिला के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंशों का निचोड़ होना चाहिए।

इसके बाद तीन धाराएं हैं—धाराएं 113 से 115 तक। इनमें व्यक्ति की उपस्थिति के बारे में कहा गया है। धारा 113 में उस प्रक्रिया का उल्लेख है जब व्यक्ति न्यायालय में उपस्थित है। उसके उपस्थित होने की दशा में यह आदेश उसे पढ़कर सुनाया जाएगा और यदि वह वांछा करता है तो इसका सार उसे समझाया जाएगा। यह केवल औपचारिकता नहीं है। इसका आशय यह है कि उस व्यक्ति को यह समझा दिया जाए कि उसके विरुद्ध कौन से अभिकथन हैं। इसके बाद की धारा (धारा 114) में ऐसी स्थिति की बात कही गई है जब व्यक्ति न्यायालय में उपस्थित नहीं है। न्यायालय में उसके उपस्थित न रहने पर दो प्रकार के विकल्प उपलब्ध हैं। मामूली तौर से उसे समन जारी किया जाना चाहिए किन्तु जिन मामलों में उस व्यक्ति की तुरन्त गिरफ्तारी आवश्यक है उनमें उसकी गिरफ्तारी के लिए वारंट जारी किया जाना चाहिए। किन्तु यह

इस प्रतिबन्ध के साथ है कि पुलिस आफिसर की रिपोर्ट होनी चाहिए या इस निमित्त में कोई अन्य इत्तिला होनी चाहिए और परिशान्ति भंग को किसी अन्य प्रकार से निवारित नहीं किया जा सकता हो। मजिस्ट्रेट को मौखिक इत्तिला के आधार पर कार्य नहीं करना चाहिए किन्तु उसे इसके सार को वारंट जारी किए जाने से पहले अभिलिखित करना चाहिए। इस धारा में ऐसी स्थिति भी अनुध्यात है जब व्यक्ति पहले से ही अभिरक्षा में है। ऐसे मामले में मजिस्ट्रेट उस आफिसर को, जिसकी अभिरक्षा में वह व्यक्ति है, निदेश देते हुए वारंट जारी करेगा। इस धारा के उपबन्ध उन तीन परिस्थितियों में, जिनकी बाबत यह धारा है, स्पष्टतया युक्तियुक्त हैं। यदि व्यक्ति को उपस्थित कराना है तो दो परिस्थितियों को छोड़कर उसे समन जारी करना ही प्रायिक तरीका है।

इसके आगे की धारा 115 में यह उपबन्ध है कि धारा 114 के अधीन यथास्थिति ऐसे समन या वारंट के साथ धारा 112 के अधीन आदेश भेजा जाना चाहिए और समन या वारंट की तामील या निष्पादन करने वाले व्यक्ति को यह आदेश उस व्यक्ति पर तामील करना चाहिए। धारा 116 में यह समर्थकारी शक्ति प्रदान की गई है जिसके अधीन मजिस्ट्रेट न्यायालय में ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति की छूट दे सकता है और उसे प्लीडर द्वारा उपसंजात होने की अनुज्ञा दे सकता है।

इसके आगे धारा 117 है। यह धारा (तीसरी उपधारा के परन्तुक का लोप करके और उपधाराओं (4) और (5) का लोप करके, जिनसे हमें सरोकार नहीं है) इस प्रकार है—

"117. इत्तिला की सचाई के बारे में जांच—(1) जबकि धारा 112 के अधीन आदेश किसी व्यक्ति को, जो न्यायालय में उपस्थित है, धारा 113 के अधीन पढ़ कर सुना दिया गया या समझा दिया गया है अथवा जब कोई व्यक्ति धारा 114 के अधीन निकाले गए समन या वारंट के अनुपालन में या निष्पादन में मजिस्ट्रेट के समक्ष उपसंजात होता है या लाया जाता है तो मजिस्ट्रेट उस इत्तिला की सचाई के बारे में जांच करने की कार्यवाही करेगा जिसके आधार पर कि वह कार्यवाही की गई है और ऐसा अतिरिक्त साक्ष्य ले सकेगा जैसा उसे आवश्यक प्रतीत हो।

(2) ऐसी जांच ऐसे प्रकार से की जाएगी जो समन-मामलों में विचारणों के संचालन और साक्ष्य के अभिलेखन के लिए एतस्मिनपश्चात् विहित प्रकार के यथासाध्य निकट हो।

(3) जब तक उपधारा (1) के अधीन जांच की समाप्ति नहीं हो जाती, तब तक के लिए परिशांति भंग का या लोक प्रशान्ति के विक्षुब्ध होने का, या किसी अपराध के किए जाने का, निवारण करने के लिए, या लोक सुरक्षा के लिए

तुरन्त उपाय करना यदि मजिस्ट्रेट आवश्यक समझे तो, वह ऐसे कारणों से, जिन्हें लेखन द्वारा अभिलिखित किया जाएगा, उस व्यक्ति को, जिसके बारे में धारा 112 के अधीन आदेश निकाला गया है, निदेश देगा कि वह जांच समाप्त होने तक परिशांति कायम रखने और सदाचार बनाए रखने के लिए बंधपत्र, प्रतिभुओं सहित या रहित, निष्पादित करे और, जब तक ऐसा बंधपत्र निष्पादित नहीं कर दिया जाता, या निष्पादन में व्यतिक्रम होने की दशा में जब तक जांच समाप्त नहीं हो जाती, उसे अभिरक्षा में निरुद्ध रख सकेगा।"

द्वितीय उपधारा के साथ प्रथम उपधारा को पढ़ने पर मजिस्ट्रेट से यह अपेक्षा की गई है कि वह इत्तला की सचाई के बारे में जांच करने के लिए अग्रसर हो। तीसरी उपधारा मजिस्ट्रेट को इस बात के लिए समर्थ करती है कि वह अपने द्वारा जांच होने तक अन्तरिम बंधपत्र के लिए मांग करे। किन्तु यह इस तथ्य पर निर्भर है कि परिशान्ति भंग का, या लोक प्रशान्ति के विक्षुब्ध होने का, या किसी अपराध के किए जाने का, निवारण करने के लिए या लोक सुरक्षा के लिए तुरन्त उपाय करने आवश्यक हैं। यह तब लागू होता है जब व्यक्ति अभिरक्षा में नहीं है और बिना बंधपत्र के उसके स्वतंत्र रहने पर लोक सुरक्षा इत्यादि के लिए खतरा रहता है। मजिस्ट्रेट को अपनी कार्यवाही का न्यायोचित कारण अभिलिखित करके बताना पड़ता है। यदि व्यक्ति प्रतिभुओं सहित या रहित बंधपत्र निष्पादित करने में असफल रहता है तो मजिस्ट्रेट उसे अभिरक्षा में निरुद्ध करने के लिए सशक्त है।

हमारे समक्ष यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या मजिस्ट्रेट जांच को लेखन द्वारा स्थगित कर सकता है और ऐसा करने पर भी क्या वह अन्तरिम बंधपत्र की मांग कर सकता है? इस प्रश्न पर उच्च न्यायालयों की रायों में मतभेद है। कुछ विद्वान् न्यायाधीशों की राय यह है कि यह कार्यवाही तुरन्त उसी समय की जा सकती है जब व्यक्ति उपसंजात होता है, क्योंकि तब यह कहा जा सकता है कि मजिस्ट्रेट ने जांच शुरू कर दी है। अन्य विद्वान् न्यायाधीशों की राय यह है कि उपधाराएं (1) और (2) में यह अनुध्यात है कि मजिस्ट्रेट को इत्तिला की सचाई के बारे में जांच शुरू कर देनी चाहिए और जब वह अपना प्रत्यक्षतः समाधान इसकी सचाई के बारे में कर ले तभी वह अपने कारणों लेखन द्वारा अभिलिखित करके अन्तरिम बंधपत्र की मांग कर सकता है। पहली राय के बारे में कुछ मामले ये हैं: **एम्परर बनाम नबीबक्श और कुछ अन्य**[16], **दुलाल चन्द्र मंडल बनाम राज्य**[17], **गनी गनायी और कुछ अन्य बनाम राज्य**[18] और **लक्ष्मी लाल बनाम भेरूलाल**[19]। दूसरी राय के बारे में कुछ मामले ये हैं:

(16) ए० आई० आर० 1942 सिंध 86.
(17) 37 क्रिमिनल सी० जे० 95.
(18) ए० आई० आर० 1959 जे० एण्ड के० 125.
(19) ए० आई० आर० 1958 राजस्थान 349.

मुट्टूस्वामी का मामला(20), **वेंकटसुब्बा रेड्डी का मामला**(21), **जगदीश प्रसाद** बनाम **राज्य**(22), **जलाउद्दीन कुंजु** बनाम **राज्य**(23), **श्रवण कुमार गुप्ता** बनाम **अधीक्षक जिला (सुप्रिन्टेंडेंट डिस्ट्रिक्ट) जेल, मथुरा और कुछ अन्य**(24), **जंगीर सिंह** बनाम **राज्य**(25), **राम गोवडा और कुछ अन्य** बनाम **मैसूर राज्य**(26), और **रतीलाल जसराज** बनाम **राज्य**(27)।

हमारी राय में इस धारा के शब्द काफी स्पष्ट हैं। जैसा कि न्यायाधीश स्ट्रेट ने **एम्परर** बनाम **बबूआ**(28) में कहा है धारा 112 के अधीन अनुश्रुति के आधार पर है किन्तु धारा 117 के अधीन जांच आवश्यक इत्तिला की सचाई को अभिनिश्चत करने के लिए है। उपधारा (1) में यह अनुध्यात है कि इत्तिला की सचाई के बारे में तुरन्त जांच की जाए। जांच के समाप्त होने तक अन्तरिम बंधपत्र की मांग तभी की जा सकती है जब कि तुरन्त उपाय करने आवश्यक हैं और इसमें व्यतिक्रम होने पर व्यक्ति को अभिरक्षा में रखना आवश्यक है। चूंकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रश्न अन्तर्वलित है और उस व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही इत्तिला और संदेह के आधार पर की जाती है इसलिए यह आवश्यक है कि मजिस्ट्रेट की शक्तियों का यथार्थत: अर्थान्वियन किया जाए। **नफर चन्द्र पाल** बनाम **किंग एम्परर**(29) में केवल एक पिटीशन और एक रिपोर्ट थी किन्तु इन्हें पर्याप्त सामग्री नहीं मानी गई। हमारे समक्ष कुछ मामले ऐसे हैं जिनमें मजिस्ट्रेट ने अभिकथनों की सचाई के बारे में जांच के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया था। मजिस्ट्रेट मामले को एक दिन से दूसरे दिन तक स्थगित करता रहा और फिर भी उसने अन्तरिम बंधपत्र की मांग नहीं की। इससे यह कार्यवाही एकदम एकपक्षीय हो गई। इसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि यह एक जांच के अन्तर्गत एक दूसरी जांच है जैसा कि कुछ मामलों में कहा गया है कि बन्धपत्र के लिए आदेश देने से पूर्व कुछ जांच करनी ही पड़ेगी, इसलिए हम उन मामलों का अनुमोदन करते हैं जिनमें यह अधिकथन किया गया है कि अन्तरिम बन्धपत्र की मांग के लिए कार्यवाही करने से या इसमें व्यतिक्रम होने पर व्यक्ति को अभिरक्षा में रखने से पूर्व कुछ जांच की जानी चाहिए। एक पुराने मामले में जिसकी रिपोर्ट **ए० डी० डन** बनाम

---

(20) आई० एल० आर० (194) मद्रास 335 (एफ० बी०).
(21) ए० आई० आर० 1955 आन्ध्र प्रदेश 96.
(22) ए० आई० आर० 1957 पटना 106.
(23) ए० आई० आर० 1952 त्रा० को० 262.
(24) ए० आई० आर० 1957 इलाहाबाद 189.
(25) ए० आई० आर० 1960 पंजाब 225.
(26) ए० आई० आर० 1960 मैसूर 259.
(27) ए० आई० आर० 1956 मुम्बई 385.
(28) आई० एल० आर० 6 इलाहाबाद 132.
(29) 28 सी० डब्ल्यू० एन० 23.

हेमचन्द (30) में प्रकाशित है, कलकत्ता उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ ने इस विषय पर विचार किया था। यह मामला वर्तमान दंड प्रक्रिया संहिता से पहले का है और इसलिए अन्तरिम बन्धपत्र के लिए उस समय कोई उपबन्ध नहीं था। किन्तु मुख्य न्यायाधीश सर बारनेस पीकाक ने जो कुछ कहा था वह प्रवर्तित विधि पर भी केवल अन्तिम आदेश के बारे में लागू नहीं होता है बल्कि बन्धपत्र में अन्तिम आदेश पर भी लागू होता है। यह धारा जिस रूप में आज भी प्रारूपित की गई है वह समुचित सुरक्षाओं का उपबन्ध करती है और यदि इस दृष्टिकोण को अधिमान्नता दी जाए कि ऐसी इत्तिला की जांच किए बिना, जिससे व्यक्ति के विरुद्ध प्रत्यक्षतः मामला साबित होने के लिए ऐसा पर्याप्त है कि उसे निरोध में रखा जाए, तो स्वतन्त्रता की जो प्रत्याभूति दी गई है उसकी अवहेलना हो जाएगी। ऐसे मामले में इस निश्चित निष्कर्ष की अपेक्षा की जाती है कि तुरन्त कार्यवाही करना आवश्यक है। यह आदेश ऐसा होना चाहिए जिसे तब तक अन्तिम आदेश माना जाए जब तक कि उसके विरुद्ध कोई बात सिद्ध न कर दी जाए। इसलिए मजिस्ट्रेट को यह स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है कि वह मामले को स्थगित कर दे और इस बीच यदि व्यक्ति बंधपत्र देने में असफल हो तो उसे जेल भेज दे। यदि विधि ऐसी हो तो जांच शुरू होने से पहले ही बंधपत्र की मांग हमेशा की जा सकती है और यह न तो विधि का आशय ही है और न उन धाराओं के, जिनके ऊपर पहले विचार किया जा चुका है, कार्यान्वियन का या उनके क्रम का ही आशय है।

इस अध्याय के अधीन जो शक्ति प्रदान की गई है और संविधान के अनुच्छेद 22 के अधीन कार्यपालिक कार्यवाही द्वारा निरोध करने की जो शक्ति है इन दोनों के बीच प्रभेद है। यद्यपि अपराध किए जाने से पूर्व बंधपत्र निष्पादित करने के लिए जारी किया गया आदेश एक प्रशासनिक आदेश के रूप में जान पड़ता है तथापि वास्तव में इसका स्वरूप न्यायिक रूप का है। प्राथमिक रूप से यह उपबंध मजिस्ट्रेट को इस बात के लिए समर्थ करता है कि वह बंधपत्र के निष्पादन की अपेक्षा करे और व्यक्ति को निरोध में न रखे। निरोध तभी होता है जब कि ऐसे बंधपत्र के निष्पादन में व्यतिक्रम हो। इसलिए इस उपबंध को ऐसी विधि के रूप में मानना गलत नहीं है कि यह उपबंध अनुच्छेद 22 द्वारा अनुध्यात निरोध के लिए है। जिस व्यक्ति को बंधित करना ईप्सित है, उसे वही अधिकार प्राप्त है जो समन के मामलों में अभियुक्त को विचारण के समय उपलब्ध होते हैं। इस आदेश पर आपत्ति वरिष्ठ न्यायालयों में की जा सकती है। इस कारण प्रत्येक प्रक्रम में विधि यह अपेक्षा करती है कि मजिस्ट्रेट लिखित रूप में अपने कारणों का कथन करे। यदि मजिस्ट्रेट जांच शुरू किए बिना अन्तरिम बंधपत्र के लिए आदेश पारित कर देता है और जिस इत्तिला के आधार पर व्यक्ति से हेतुक दर्शित करने की मांग की गई है उस इत्तिला की सचाई के बारे में प्रत्यक्षतः कुछ भी जांच नहीं करता है तो उसकी यह कार्यवाही सर्वथा प्रशासनिक होगी। किन्तु न तो दंड प्रक्रिया संहिता के अध्याय 8 की स्कीम और न धारा 117 की स्कीम के अर्थान्वियन से इस निर्वचन की पुष्टि होती है। तदनुसार मधु लिमये के मामले (1970 का रिट पिटीशन संख्या 307—मधु लिमये और कुछ अन्य बनाम वेदमूर्ति और कुछ अन्य) में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि चूंकि वह मामला

---

(30) (1869), 12 डब्ल्यू० आर० (क्रिम०) 60.

समय-समय पर केवल स्थगित कर दिया गया था और मधु लिमये को अभिरक्षा में फिर से रखे जाने से पूर्व कोई जांच नहीं की गई थी इसलिए उसका निरोध अवैध था। अब हम इस अध्याय की शेष धाराओं पर संक्षेप से विचार करते हैं।

इसके आगे धारा 118 में यह अधिकथित है कि यदि ऐसी जांच से यह साबित हो जाता है कि उस व्यक्ति से जिसके बारे में जांच की गई है परिशान्ति कायम रखने के लिए या सदाचार बनाए रखने के लिए, प्रतिभुओं सहित या रहित, बंधपत्र निष्पादित करने की मांग की जानी चाहिए तो मजिस्ट्रेट उससे ऐसा बंधपत्र निष्पादित करने की मांग कर सकता है। यह प्रतिभूति उस प्रतिभूति से अधिक नहीं होनी चाहिए जो धारा 112 के अधीन आदेश में कथित है और न यह अत्यधिक होनी चाहिए। धारा 119 के अधीन मजिस्ट्रेट ऐसे व्यक्ति को उन्मोचित या अभिरक्षा से मुक्त तब कर सकता है जब उसे बंधित रखने की आवश्यकता साबित नहीं हुई है।

संख्या (ग) वाला अन्तिम खंड उन कार्यवाहियों के संबंध में है जो धारा 118 के पश्चात् की जाती हैं। धारा 120 में उस कालावधि का अवसान नियत किया गया है जिस कालावधि के लिए प्रतिभूति की अपेक्षा की गई है। धारा 121 में बंधपत्र की अन्तर्वस्तुओं और उन दशाओं का उल्लेख है जिनके अधीन बंधपत्र भंग होता है। धारा 122 में मजिस्ट्रेट को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह प्रतिभूतियों को नामंजूर कर सकता है किन्तु वह ऐसा तभी कर सकता है जब कि उसने जांच कर ली है और नामंजूर करने के अपने कारणों और साक्ष्य को उसने अभिलिखित कर लिया है। धारा 123 में व्यक्ति को जेल भेजने या जेल में निरुद्ध रखने की शक्ति तब प्रदान की गई है जब वह व्यक्ति बंधपत्र में वर्णित कालावधि के लिए जेल में पहले से ही है। यदि यह कालावधि एक वर्ष से अधिक है तो इस मामले की कार्यवाहियां वरिष्ठ न्यायालय को प्रस्तुत की जाएंगी। इसमें अन्य आनुषंगिक बातों के लिए भी उपबंध हैं। धारा 124 जिला मजिस्ट्रेट या मुख्य प्रैजीडेंसी मजिस्ट्रेट को यह शक्ति प्रदान करती है कि वह ऐसे निरुद्ध व्यक्ति को तब छोड़ सकता है जब समुदाय या किसी अन्य व्यक्ति को परिसंकट (हेजार्ड) में डालने का कोई खतरा नहीं है। इसमें प्रतिभूति इत्यादि को कम करने के लिए भी अन्य उपबंध हैं, जिनसे हमें कोई सरोकार नहीं है। धारा 125 इन्हीं मजिस्ट्रेटों को यह शक्ति प्रदान करती है कि वे पर्याप्त कारणों से किसी बंधपत्र को रद्द कर सकते हैं और तब धारा 126 के अधीन प्रतिभुओं का भी उन्मोचन हो जाता है। धारा 126-क में बंधपत्र की अनवसित कालावधि के लिए प्रतिभूति का उल्लेख है जिसके बारे में कोई विशेष निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है।

इस अध्याय का तात्पर्य अपराधों और लोक प्रशान्ति विक्षुब्ध करने और परिशांति भंग करने का निवारण करना है। प्रत्यक्ष कार्यों को साबित करने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि ऐसे कार्य किए गए हैं तो उन पर विचार करना पड़ेगा। चूंकि यह कार्यवाही निवारात्मक है इसलिए यह प्रत्यक्ष कार्यों के आधार पर नहीं है बल्कि ऐसे आशंकित संकट के आधार पर जिन्हें दूर करना है। इसलिए यह उपबन्ध सार्वजनिक

व्यवस्था के हित में अत्यावश्यक रूप में उसी अर्थ में अनुध्यात है जिसे हमने यहां बताया है। ये कार्यवाहियां जनसाधारण के हित में भी हैं। यदि अपराधों और परिशांति भंग और लोक प्रशान्ति में विक्षुब्ध होने का निवारण सामुदायिक जीवन की सामान्य स्थिति को बनाए रखने के लिए किया जाता है तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ये कार्यवाहियां सार्वजनिक व्यवस्था के हित में हैं जैसा कि हमने ऊपर बताया है। "सार्वजनिक व्यवस्था" ऐसी अभिव्यक्ति है जिसमें लचीलापन है और विधि की प्रसंगानुकूल और विशेष परिस्थितियों की विद्यमानता को देखते हुए इस अभिव्यक्ति के अनेक अर्थ किए जा सकते हैं। इंग्लैंड में इस शक्ति का प्रयोग 400 वर्षों से भी अधिक समय से किया जा रहा है और यह ऐसी शक्ति नहीं है जो केवल औपनिवेशिक सम्राज्यों के प्रशासन के लिए ही आवश्यक है। हमारे समाज में इसकी आवश्यकता आज भी उतनी ही अधिक है जितनी कि यह अंग्रेजों के चले जाने से पहले थी। हम इसमें कोई बात संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क), (ख), (ग) और (घ) के विरुद्ध नहीं पाते हैं क्योंकि इसके निर्बन्धनों की परिसीमाएं खण्ड (2), (3), (4) और (5) के अन्तर्गत हैं। तदनुसार हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि हमने जिस रूप में इस अध्याय की व्याख्या की है उस रूप में यह अध्याय सांविधानिक रूप से विधिमान्य है।

इस विषय को समाप्त करने से पूर्व इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि संहिता के अन्य उपबंधों की, जैसे धारा 55 या 90 की दुहाई देने की कोई गुंजाइश नहीं रह गई है। उच्च न्यायालयों में कुछ ऐसे मामले हुए हैं, जिनमें अध्याय 8 की सहायता के लिए इन उपबंधों का सहारा लिया गया है किन्तु इनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। इस तथ्य के अलावा कि धारा 107 में ही यह बात कही गई है अध्याय 8 की प्रक्रिया का पालन होना चाहिए (इस बात पर हमने ऊपर पर्याप्त रूप से जोर दिया है)। धारा 55 गिरफ्तारी के विशेष मामलों के सम्बन्ध में है और उसे ऐसे मामलों में लागू नहीं किया जा सकता है जिनमें संहिता की धाराओं 112, 113 और 114 द्वारा अपनी प्रक्रिया विहित की गई है। इसी तरह से धारा 90 की सहायता तब तक ली जा सकती है जब तक कि धारा 112 के अधीन आदेश तैयार न किया गया हो। जब यह आदेश तैयार कर लिया जाता है तब मजिस्ट्रेट को धाराओं 113 और 117(1) के अधीन कार्य करना होता है और तब धारा 91 के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। कुछ मामलों में, जिनका एक उदाहरण **वासुदेव ओजा और कुछ अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[31] का मामला है, जो तर्क अपनाया गया है वह गलत है।

ऐसे व्यक्ति की जमानत का प्रश्न भी नहीं उठता है क्योंकि यदि अन्तरिम बंधपत्र की बजाय उपसंजाति के लिए जमानत अनुज्ञेय होती तो इसका उल्लेख अध्याय 8 में अवश्य रहता। इसके साथ यह भी बात है कि व्यक्ति की निरन्तर उपसंजाति के लिए ही जमानत होती है और कतिपय कार्यों के किए जाने से उसे निवारित करने के लिए जमानत नहीं होती है। यदि किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसके विरुद्ध संहिता की धाराओं 107, 112 के अधीन कार्यवाही की जा रही है, सादाचार को सुनिश्चित करने के लिए इस निमित उससे

---

(31) ए० आई० आर० 1958 इलाहाबाद 578.

बंधपत्र न ग्रहण किया जाए तो उसे मुक्त कर देना कार्यवाहियों के प्रयोजन को निष्फल कर देना है।

हमने अपने पूर्वतर आदेश में यह कहा था कि हम धारा 144 और अध्याय 8 के उपबंधों को, जिस रूप में हमने इनका निर्वचन किया है, विधिमान्य अभिनिर्धारित करते हैं। हमने यह ऊपर दिखलाया है कि इन उपबंधों को किस रूप में समझना चाहिए और किस तरह से लागू करना चाहिए। इन्हें इस तरह से पढ़ने पर हमारी यह राय है कि ये संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क), (ख), (ग) और (घ) के उपबंधों का अतिवर्तन नहीं करते हैं।

न्यायाधिपति भार्गव—

मैं माननीय मुख्य न्यायाधिपति के निर्णय से इस अपवाद के साथ सहमत हूं कि मेरा यह मत नहीं है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 107 के अधीन शुरू की गई कार्यवाही में मजिस्ट्रेट ऐसे व्यक्ति को, जिसके बारे में धारा 112 के अधीन आदेश किया गया है, जांच के समाप्त होने तक परिशांति बनाए रखने के लिए बंधपत्र प्रतिभुओं सहित या रहित निष्पादित करने का निदेश दे सकता है और इसमें व्यतिक्रम होने पर मजिस्ट्रेट उसे बंधपत्र निष्पादित न किए जाने तक तभी अभिरक्षा में निरुद्ध कर सकता है जब मजिस्ट्रेट ने धारा 117(1) के अधीन जांच शुरू कर दी हो और उस इत्तिला की, जिसके आधार पर कार्यवाही शुरू की गई थी, सचाई के बारे में अपना यह समाधान कर लिया हो कि प्रत्यक्षत: मामला बनता है। मेरी राय में ऐसा निर्वचन धारा 117(3) के प्रयोजनों को पूर्णतया निष्फल कर देगा।

ध्यान देने की बात यह है कि जब धारा 107 के अधीन कार्यवाहियां करना अनुध्यात है, तब मजिस्ट्रेट उस समय कार्यवाही करता है जब उसे यह इत्तिला दी जाती है कि किसी व्यक्ति के बारे में यह संभाव्यता है कि वह परिशान्ति भंग करेगा या लोक प्रशान्ति विक्षुब्ध करेगा। मजिस्ट्रेट यह कार्यवाही तभी करता है जब उसकी यह राय हो कि ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार है। मजिस्ट्रेट यह कार्यवाही केवल इस कारण शुरू नहीं करता है कि उसे इत्तिला मिली है। इत्तिला पाने के परिणामस्वरूप मजिस्ट्रेट को अपनी यह राय बनानी पड़ती है कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार हैं। यह राय वह दी गई इत्तिला के आधार पर तभी बना सकता है जब वह यह निष्कर्ष निकाले कि दी गई इत्तिला पर्याप्त ब्योरेवार है और इतनी विश्वसनीय है कि उसके आधार पर उसके द्वारा कार्य किया जाना न्यायोचित है। जिन मामलों में दी गई इत्तिला इस तरह की नहीं है उनमें मजिस्ट्रेट का यह कर्तव्य होगा कि वह और आगे जांच करे और अपना यह समाधान करे कि यह ऐसा उचित मामला था जिसमें पर्याप्त आधारों के विद्यमान होने के कारण कार्यवाही की जानी चाहिए। ऐसे मामले हो सकते हैं जिनमें पुलिस से इत्तिला प्राप्त हो और तब मजिस्ट्रेट पुलिस के सभी कागजों की

1970(10) eILR(PAT) SC 16

परीक्षा कर सकता है और अपना यह समाधान कर सकता है कि पुलिस द्वारा यथाप्रार्थित कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार विद्यमान हैं। ऐसे मामले भी हो सकते हैं जिनमें ऐसे प्राइवेट परिवादियों की, जिन्हें उस व्यक्ति द्वारा, जिसके विरुद्ध परिवाद किया गया है, परिशांति भंग होने की आशंका है, प्रेरणा पर कार्यवाही संस्थित की जा सकती है। ऐसे मामलों में मजिस्ट्रेट या तो शपथ पर साक्षियों की परीक्षा करके स्वयं कुछ जांच करने के लिए बाध्य है या पुलिस के जरिए जांच कराने के लिए बाध्य है जिसमें कि वह कार्यवाहियों के लिए पर्याप्त आधारों की विद्यमानता के बारे में सही राय कायम करने में समर्थ हो। मजिस्ट्रेट इन कदमों को उठाने के पश्चात् धारा 112 के अधीन आदेश करने के लिए अग्रसर हो सकता है। ऐसा आदेश करते समय उसे प्राप्त इत्तिला के सारांश को लेखन द्वारा अभिलिखित करना पड़ता है जिसका अनिवार्यतः अर्थ यह होता है कि यह सारांश इत्तिला का वह भाग है जिसके आधार पर उसने अपनी यह राय बनायी थी कि कार्यवाहियां करने के लिए पर्याप्त आधार विद्यमान हैं। इस प्रारम्भिक प्रक्रम में मजिस्ट्रेट से यह अपेक्षा की जाती है कि वह यह सुनिश्चित करे कि उस व्यक्ति के विरुद्ध, जिससे परिशांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति की मांग की गई है, कार्यवाहियां शुरू करने के प्रयोजन के लिए प्रत्यक्षतः मामला विद्यमान है।

धारा 112 के अधीन आदेश जारी किए जाने के पश्चात् जो प्रक्रिया अपनायी जानी है वह धाराओं 113 और 114 में अन्तर्विष्ट है। यदि ऐसा व्यक्ति न्यायालय में उपस्थित है तो धारा 112 के अधीन आदेश उसे पढ़कर सुनाया जाएगा और यदि वह व्यक्ति वांछा करे तो इसका सारांश उसे समझाया जाएगा। यदि वह न्यायालय में उपस्थित नहीं है तो मजिस्ट्रेट को उससे उपसंजात होने की अपेक्षा करने के लिए समन जारी करना होता है या जब ऐसा व्यक्ति अभिरक्षा में है, तो उस आफिसर को, जिसकी अभिरक्षा में वह व्यक्ति है, यह निदेश देते हुए वारंट जारी करना होता है कि वह उस व्यक्ति को न्यायालय के समक्ष लाए। जिन मामलों में मजिस्ट्रेट को यह प्रतीत हो कि परिशांति भंग करने के भय होने का कारण विद्यमान है और ऐसी परिशांति का भंग ऐसे व्यक्तियों की तुरन्त गिरफ्तारी से अन्यथा रूप में निवारित नहीं किया जा सकता है तो इन मामलों के लिए दूसरी वैकल्पिक प्रक्रिया अधिकथित है। ऐसे मामलों में मजिस्ट्रेट उस व्यक्ति की गिरफ्तारी के लिए वारंट जारी कर सकता है। इसी प्रक्रिया के अधीन वह व्यक्ति न्यायालय के समक्ष उपसंजात होता है या लाया जाता है। इसके पश्चात् जो कार्यवाहियां की जानी हैं वे धारा 117(1) में अधिकथित है जिनमें यह अपेक्षा की गई है कि धारा 113 के अधीन न्यायालय में उपस्थित उस व्यक्ति को, जो व्यक्ति धारा 114 के अधीन मजिस्ट्रेट के समक्ष उपसंजात होता है या लाया जाता है, धारा 112 के अधीन आदेश ज्यों ही पढ़कर सुनाया जाए या उसे समझाया जाए, तो मजिस्ट्रेट को उस इत्तिला की सचाई के बारे में जांच करने के लिए अग्रसर होना पड़ता है जिस इत्तिला के आधार पर कार्यवाही की गई है और मजिस्ट्रेट को ऐसे और भी साक्ष्य लेने होते हैं जो आवश्यक प्रतीत हों। धारा 117 की उपधारा (2) के अधीन यह जांच उसी रीति में करनी होती है जो रीति समन के मामलों में साक्ष्य का विचारण करने और साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए

विहित है। इस प्रकार से धारा 117 की उपधारा (1) में मजिस्ट्रेट के लिए यह आज्ञात्मक निदेश अन्तर्विष्ट है कि ज्यों ही वह व्यक्ति, जिसके बारे में धारा 112 के अधीन आदेश किया गया है, मजिस्ट्रेट के समक्ष उपसंजात होता है, त्यों ही वह जांच की कार्यवाहियां शुरू करे।

धारा 117(1) इस बात को स्पष्ट करती है कि मजिस्ट्रेट को अनावश्यक विलम्ब किए बिना जांच संस्थित करनी चाहिए। किन्तु इस उपबंध का यह निर्वचन नहीं किया जा सकता कि इससे यह अपेक्षित है कि जांच तुरन्त उसी समय प्रारंभ होनी चाहिए जब कि व्यक्ति न्यायालय में उपसंजात होता है। यह साफ जाहिर है कि ऐसी अपेक्षा अव्यवहारिक होगी। जिस मामले में व्यक्ति को न्यायालय में उपसंजात होने के लिए समन जारी किया जाता है या उसकी गिरफ्तारी के लिए धारा 114 के परन्तुक के अधीन वारंट जारी किया जाता है उसमें वह तारीख और समय, जब कि व्यक्ति मजिस्ट्रेट के न्यायालय में उपसंजात होगा, सदैव अनिश्चित रहती है। समन तामील करने के लिए कुछ समय तो लगेगा ही और यह समय उस स्थान की दूरी और पहुंचने के साधन पर निर्भर करता है जिस स्थान में वह व्यक्ति हो और इसलिए समन तामील करने के समय में अन्तर पड़ सकता है। ऐसे मामलों में भी, जहां वारंट धारा 114 के परन्तुक के अधीन जारी किया जाता है, वह व्यक्ति इस कारण तुरन्त न्यायालय में पेश नहीं किया जा सकता है क्योंकि उसकी गिरफ्तारी का स्थान मजिस्ट्रेट से मीलों दूर हो सकता है। विधानमंडल यह अनुध्यान नहीं कर सकता था कि ऐसी आकस्मिकताओं में साक्षियों को मजिस्ट्रेट के न्यायालय में सम्पृक्त व्यक्ति की उपसंजाति की प्रतीक्षा में एकदम तैयार रखा जाए जिसमें कि मजिस्ट्रेट तुरन्त जांच शुरू कर सके। यह भी बात है कि धारा 117 (1) के अधीन जांच को उसी रीति में करने का निदेश दिया गया है जो समन के मामलों में विचारण करने के लिए विहित की गई है। इस जांच का परिणाम यह हो सकता है कि सम्पृक्त व्यक्ति से परिशांति कायम रखने के लिए बंधपत्र निष्पादित करने और प्रतिभूतियां देने की मांग की जा सकती है और यदि वह ऐसा करने में व्यतिक्रम करता है तो उसे जेल में निरुद्ध किया जा सकता है जिससे वह अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता खो देगा। ऐसे मामलों में सम्पृक्त व्यक्ति को जांच के समय विधिवक्ता द्वारा अपना प्रतिनिधित्व कराने का अधिकार है। इसके परिणामस्वरूप जब वह मजिस्ट्रेट के समक्ष उपसंजात होता है तब वह अपनी पसन्द का विधिवक्ता नियोजित करने के लिए युक्तियुक्त स्थगन की मांग विधिपूर्णतया कर सकता है और इस प्रकार से वह अपनी ही प्रार्थना पर यह सुनिश्चित करा सकता है कि जांच तुरन्त प्रारंभ न हो। मेरी राय में धारा 117 की उपधारा (1) का समुचित निर्वचन यह है कि जांच यथासाध्य शीघ्र प्रारंभ होनी चाहिए और यदि मजिस्ट्रेट पर्याप्त कारणों के बिना जांच मुल्तवी करता है तो वह इस उपधारा में अन्तर्विष्ट निदेश को भंग करता है।

इन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए मेरी यह राय है कि धारा 117 (3) के अधीन मजिस्ट्रेट को प्रदत्त शक्ति का निर्वचन किया जाना चाहिए। यह शक्ति ऐसे मामलों के

लिए दी गई है जिनमें परिशान्ति भंग के निवारण के लिए तुरन्त उपाय आवश्यक हैं। ऐसी स्थिति में मजिस्ट्रेट उस व्यक्ति को, जिसके बारे में धारा 112 के अधीन आदेश दिया गया है, यह निदेश दे सकता है कि वह व्यक्ति धारा 117 (1) के अधीन जांच के समाप्त होने तक परिशांति कायम रखने के लिए बंधपत्र प्रतिभुओं सहित या रहित निष्पादित करे और यदि वह बंधपत्र निष्पादित करने में असफल रहता है तो मजिस्ट्रेट उसका निरोध, जांच समाप्त होने तक, किए जाने के लिए निदेश दे सकता है।

मजिस्ट्रेट को इत्तिला प्राप्त होने पर अपनी यह राय बनाने के लिए कि कार्यवाहियां करने के लिए पर्याप्त आधार विद्यमान हैं, धारा 107 के अधीन जो प्रक्रिया अपनानी पड़ती है उसकी पृष्ठभूमि में यह शक्ति मजिस्ट्रेट को आपातिक मामलों में प्रयोग करने के लिए प्रदान की गई है। प्रथम प्रक्रम में जब ऐसी राय बनाई जाती है तब यह स्वाभाविक है कि मजिस्ट्रेट एकपक्षीय कार्य करता है और उसे उस इत्तिला पर निर्भर रहना पड़ता है जो उसे दी गई है या ऐसी अन्य इत्तिला पर निर्भर रहना पड़ता है जो उसने उस व्यक्ति की, जिसके विरुद्ध कार्यवाहियां की जानी हैं, अनुपस्थिति में स्वयं अभिप्राप्त की हो।

मजिस्ट्रेट अपनी इस राय के आधार पर ही धारा 112 के अधीन आदेश करने के लिए अग्रसर होता है और धारा 114 के परन्तुक के अधीन गिरफ्तारी का वारंट भी जारी करता है। धारा 117(3) के अधीन प्रदत्त शक्ति को ऐसे मामलों में लागू किया जाना बहुत सम्भव है जिनमें मजिस्ट्रेट ने पूर्वतर प्रक्रम में धारा 114 के परन्तुक के अधीन वारंट जारी कर दिया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वारंट ऐसे मामलों में जारी किया जाता है जिनमें परिशान्ति का भंग होना तुरन्त गिरफ्तारी से अन्यथा और किसी रूप में निवारित नहीं किया जा सकता और जहां मजिस्ट्रेट यह समझता है कि परिशांति भंग को निवारित करने के लिए तुरन्त उपाय करना आवश्यक है वहां धारा 117(3) भी लागू की जाती है।

विधानमंडल ने मजिस्ट्रेट को गिरफ्तारी का वारंट जारी करने के लिए सशक्त करने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से इसके आगे मजिस्ट्रेट को यह भी शक्ति प्रदान की है कि वह ऐसे मामलों में यह निदेश दे कि जांच के समाप्त होने तक परिशांति बनाए रखने के लिए बंधपत्र दिया जाए। "जांच समाप्त होने तक" अभिव्यक्ति का निर्वचन उस कालावधि के अर्थ में करना चाहिए जिसके अन्तर्गत जांच प्रारंभ होने और उसकी समाप्ति होने तक की अवधि आती हो।

इसलिए जिस क्षण से जांच प्रारम्भ होने वाली है, वह क्षण भी बन्धपत्र की कालावधि के अन्तर्गत है। जांच के लम्बित रहने तक बन्धपत्रों को प्रस्तुत करने की शक्ति ऐसे मामलों में, जहां परिशांति भंग के लिए तुरन्त खतरा मौजूद है, स्पष्टतया आवश्यक है और इसके निवारण के लिए तुरन्त उपाय करने आवश्यक हैं। मजिस्ट्रेट ने धारा 107 के अधीन जो राय पहले बना ली थी उसके आधार पर ऐसा आदेश किया जाता है।

इसके पश्चात् जब धारा 117 (1) के अधीन जांच की जाती है तब इसमें कोई संदेह नहीं कि इत्तिला के सही होने की जांच और धारा 107 के अधीन एकपक्षीय अस्थायी राय की समुचित परख उस न्यायिक प्रक्रिया के अनुसार की जाती है जो समन के मामलों के विचारण के लिए विहित है और तदुपरान्त यदि यह पाया जाए कि कोई न्यायोचित्य नहीं था तो आदेश प्रतिसंहृत कर दिया जाएगा। मेरी राय में मजिस्ट्रेट को ऐसी शक्ति का प्रदान किया जाना नागरिक की वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बहुत ही युक्तियुक्त निर्बन्धन है। इसकी आवश्यकता अपराधों के निवारण के लिए है और यह तभी कारगर हो सकती है जब इसके प्रयोग की अनुज्ञा सक्षम प्राधिकारी द्वारा अपनायी गई इस राय पर हो कि तुरन्त उपाय अपेक्षित हैं। यह सच है कि धारा 117(3) के अधीन व्यक्ति अपने विरुद्ध न्यायालय द्वारा न्यायिक निष्कर्ष निकालने से पहले ही जेल में निरुद्ध किया जा सकता है किन्तु ऐसी प्रक्रिया न केवल युक्तियुक्त है, बल्कि आवश्यक भी है।

इस सम्बन्ध में मजिस्ट्रेट की उस शक्ति की तुलना की जा सकती है जो उसे संज्ञेय अपराध के लिए अभियुक्त व्यक्ति की बाबत प्राप्त है। यदि मजिस्ट्रेट को ऐसी विश्वसनीय पर्याप्त इत्तिला प्राप्त है जिसमें कि वह यह राय बना सके कि व्यक्ति ने संज्ञेय अपराध किया है तो मजिस्ट्रेट उस व्यक्ति को विचारणाधीन बंदी के रूप में निरोध का आदेश दे सकता है। उस प्रक्रम में विधि के अनुसार ऐसा समझा जाता है कि वह व्यक्ति तब तक निर्दोष है और फिर भी उसके समुचित विचारण को सुनिश्चित करने के लिए कारावास में उसके निरोध को युक्तियुक्त समझा जाता है जिसमें कि उस अपराध की पुनरावृत्ति न हो सके जिस अपराध के लिए वह व्यक्ति अभियुक्त है। विचारणाधीन बंदी के रूप में यह निरोध भी वास्तविक विचारण से पूर्व मजिस्ट्रेट द्वारा अपनाई गई एकपक्षीय राय पर होता है। धारा 117(3) के अधीन प्रदत्त शक्ति बहुत कुछ इसी प्रकार की है और उसका आशय यह सुनिश्चित करना है कि वह व्यक्ति, जिससे परिशांति-भंग होने की आशंका है, परिशान्ति-भंग न करने के लिए वचनबद्ध हुए बिना और जांच के लम्बित रहने तक स्वतंत्र रहने के लिए अनुज्ञात होने पर कार्यवाहियों के प्रयोजन को निष्फल न करे।

श्री गर्ग ने इस सिलसिले में यह तर्क प्रस्तुत किया था कि यदि धारा 117(3) का निर्वचन इस रूप में किया जाता है कि इसके द्वारा मजिस्ट्रेट को यह निदेश देने की अनुज्ञा है कि वह परिशांति बनाए रखने के लिए बंधपत्र की मांग कर सके और इसमें व्यतिक्रम होने पर जांच के अनुक्रम में साक्ष्य अभिप्राप्त किए बिना निरोध का आदेश दे सके तो मजिस्ट्रेट धारा 117(1) के अधीन जांच की सुनवाई को स्थगित करता रह सकता है और इस प्रकार उस व्यक्ति को यह हेतुक दर्शित करने का अवसर दिए बिना कि उसके विरुद्ध आदेश दिए जाने के लिए कोई न्यायोचित्य नहीं है, उसे लम्बी कालावधि तक निरोध में रख सकता है। चाहे जो भी राय हो, इस प्रकार के उपबंध की विधिमान्यता का निर्णय मजिस्ट्रेट द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की संभावना के आधार पर नहीं किया जा सकता है। यदि मजिस्ट्रेट धारा 117(3) के अधीन आदेश करने के पश्चात् जांच को

1970(10) eILR(PAT) SC 16

अनावश्यक रूप से मुल्तवी करता है तो वह, चाहे कुछ भी हो, अपनी शक्तियों का केवल दुरुपयोग ही नहीं करता है बल्कि वह धारा 117(1) में ही अन्तर्विष्ट विधि की आज्ञा के, जिसमें यह अपेक्षा की गई है कि मजिस्ट्रेट को अनावश्यक विलम्ब के बिना इत्तिला की सचाई के बारे में जांच शुरू कर देनी चाहिए (जैसा कि मैंने ऊपर बताया है), विरुद्ध कार्य करेगा। ऐसे मामले में जब शक्ति का दुरुपयोग किया जाता है और सुनवाई में अनावश्यक रूप में विलम्ब किया जाता है तब कार्यवाहियां अभिखंडित किए जाने के दायित्वाधीन होंगी और व्यक्ति को इस आधार पर स्वतन्त्र किया जा सकेगा कि मजिस्ट्रेट ने धारा 117(1) की अपेक्षाओं का अनुपालन नहीं किया है। इसके विपरीत यदि मजिस्ट्रेट जांच की कार्यवाहियों को शीघ्रता से और बिना विलम्ब के जारी रखते हुए धारा 117(1) का अनुपालन करता है तो मेरी समझ में यह नहीं कहा जा सकता कि उस व्यक्ति का, जिसके विरुद्ध कार्यवाहियां की जा रही हैं, निरोध उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं पर अयुक्तियुक्त निर्बन्धन हैं। जब मजिस्ट्रेट ने पहले ही यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि परिशांति-भंग होने का निवारण करने के लिए तुरन्त उपाय करने आवश्यक हैं और सम्पृक्त व्यक्ति ने जांच के लम्बित रहने के दौरान परिशांति बनाए रखने के लिए बंधपत्र देने में व्यतिक्रम किया है तब यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी स्वतन्त्रता पर अयुक्तियुक्त निर्बन्धन लगाए गए हैं।

इन सभी कारणों से मेरी राय में मजिस्ट्रेट धारा 117(3) के अधीन शक्तियों का प्रयोग साक्ष्य अभिलिखित किए बिना और धारा 117 (2) के अधीन जांच प्रारंभ करने के पश्चात् प्रत्यक्षतः मामला होने का निष्कर्ष निकाल करके कर सकता है। इस निर्वचन के आधार पर भी धारा 117 (3) विधिमान्य है और यह धारा संविधान के अनुच्छेद 19(2), (3), (4) और (5) के अधीन युक्तियुक्त निर्बन्धन है।

रिट पिटीशन खारिज कर दिए गए।

वि०